उपनिषदों, षड् दर्शनों, स्मृति-पुराणों का पूरा-पूरा ज्ञान तो था ही, पर साथ ही आयुर्वेद, ज्योतिष, कामशास्त्र, नृत्य, संगीत, मृगया और चित्रकला से भी पर्याप्त परिचय था। इन्होंने देश के प्रायः सभी भागों का विशेषतः उत्तर भारत का खूब भ्रमण किया था। उत्तर में होनेवाला काश्मीर का केशर-पुष्प, हिमालय के देवदारु-वृक्ष और हिम-धवलित चोटियां, कलिंग-देश के नारिकेल-वृक्ष, ताम्रपर्णी की मोतियों की सीपियाँ, समुद्र तथा इसी तरह के अन्य कई स्थान एवं पदार्थ इन की सूक्ष्मदर्शी लेखनी द्वारा बड़े भव्यरूप में चित्रित किये गये हैं। इन सब का इन्होंने ऐसा सजीव और स्वाभाविक वर्णन किया है जो प्रत्यक्ष दर्शनके विना होना बहुत कठिन प्रतीत होता है। [illegible] सिंहलद्वीप-वाली दन्त-कथा की सच्चाई में विश्वास किया जाय, [illegible] सिंहलद्वीप जाना भी सिद्ध हो जाता है। इस तरह कालिदास वि[illegible] [illegible] किये हुए, उदार एवं सुपरिष्कृत विचारोंवाले निरभिमानी, [illegible] तथा आमोदप्रिय व्यक्ति थे। इनके जन्मकाल और जन्मस्थान के सम्बन्ध में हम आगे पृथक् विचार करेंगे।

रचनायें—वैसे तो कालिदास के नाम से रचित ग्रन्थों की प्रचलित संख्या दो दर्जन से भी अधिक बतलाई जाती है, किन्तु प्रायः सर्वसम्मति से ७ ही ग्रन्थ कालिदास-रचित माने गये हैं; इनमें दो तो महाकाव्य–(१) कुमारसंभव और (२) रघुवंश; दो खण्ड काव्य–(१) ऋतु-संहार और मेघदूत एवं तीन नाटक, (१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशीय, (३) अभिज्ञान-शाकुन्तल हैं। इन उपर्युक्त रचनाओं में हमें भाषा तथा शैली की समानता के साथ-साथ सूक्ष्म-पर्यवेक्षण और विचार-धारा की समानता भी मिलती है। वास्तव में इनमें कवि की प्रतिभा और कला का क्रमिक विकास एवं परिपाक स्पष्ट दिखाई देता है। कोई बाह्य साक्ष्य न होने पर भी तुलनात्मक अध्ययन से इन रचनाओं का निर्माण-क्रम यों रखा जा सकता है:–([illegible] में) ऋतु

कुमार०, मेघ० और रघु०; (नाटकों में) मालविका० विक्रमो० और शाकु० अथवा साथ-साथ मिल-जुलकर ऋतु० मालवि० कुमार० विक्रमो० मेघ० रघु० और शाकु० ।

ऋतुसंहार---६ सर्ग और १४४ पद्यों का गीति-काव्य है, जिस में ग्रीष्म से प्रारम्भ करके क्रमशः षड्-ऋतुओं का अनूठा वर्णन है । सारी रचना में युवक-युवतियों का प्रणय प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य से भव्य-समन्वय और सहानुभूति पाकर खूब किलोलें करता दृष्टि-गोचर होता है । बहुत समय तक कतिपय विद्वान् भाषा, भाव तथा शृंगार के नैतिक दृष्टिकोण के अपरिष्कृत होने के कारण इस रचना को कालिदासकृत नहीं मानते थे, किन्तु बाद के अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि यह कवि का काव्य-निर्माण की ओर सर्व-प्रथम प्रयास है । इसी कारण इसकी भाषा और भाव परिष्कृत नहीं हैं और उच्च नैतिक स्तर का अभाव भी पद पद पर अखरता है । कीथ और मैक्डानल आदि पाश्चात्य समालोचकों के अनुसार ऋतुसंहार में दिखलाई देनेवाला सूक्ष्म-प्रकृतिवीक्षण, प्रकृति के प्रति गहरी सहानुभूति एवं प्रसाद-गुण की रमणीयता इत्यादि विशेषताएँ इस ग्रन्थ पर कालिदास की कला की अमिट छाप लगाए हुए हैं ।

कुमारसम्भव—यह कवि का प्रथम-महाकाव्य है, जिसमें १७ सर्ग हैं और महादेव-पार्वती का विवाह, कुमार (कार्तिकेय) का जन्म तथा उसके हाथों तारकासुर का वध वर्णित है । सारा ग्रन्थ भारतीय गृहस्थ-जीवन का एक अनुपम चित्र है । भाषा की दृष्टि से कुछ समालोचकों का कथन है कि इसके ८ सर्ग ही कालिदास-रचित हैं ; इसमें महाकाव्य का लक्षण संगत करने तथा काव्य के कथानक को पूर्ण करने के लिए ही किसी ने पीछे से ९ सर्ग और जोड़ दिये हैं, इसीलिये इसपर मल्लिनाथ की टीका केवल ८ सर्ग तक ही मिलती है ।

मेघदूत--यह खण्ड-काव्य है। इसके सम्बन्ध में विस्तार के साथ हम आगे विचार करेंगे।

रघुवंश--यह कवि का अन्तिम और सर्व श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसके १९ सर्ग हैं और दिलीप से लेकर सभी रघुवंशी राजाओं यथा–रघु, अज, दशरथ, राम, तथा राम के वंशजों का वर्णन है। सारा ग्रन्थ कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा, परिपक्व कला एवं भारतीय संस्कृति का भव्य निदर्शन है।

मालवि०--यह कालिदास का सर्वप्रथम नाटक है, इसमें ५ अंक हैं और राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेम कथा वर्णित है।

विक्रमोर्वशीय—यह ५ अंकों का दूसरा नाटक है, जिसमें पुरुरवा तथा उर्वशी अप्सरा के प्रणय का वर्णन है।

अभिज्ञानशाकु०--यह कालिदास का--कालिदास का ही क्यों, समग्र संस्कृत-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसमें ७ अंक हैं तथा राजा दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रणय-कथा वर्णित है। कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में "शकुन्तला के आरम्भ के सौन्दर्य ने मङ्गलमय परिणति से सफलता प्राप्तकर मर्त्य को अमृत के साथ सम्मिलित करा दिया है" सुविख्यात जर्मन कवि गेटे (Goethe) ने भी इस नाटक का अनुवाद पढ़कर आनन्द-मुग्ध हो अपनी रचना 'फाउस्ट' (Faust) में जो उद्गार प्रकट किये हैं, उनका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में सर विलियम जोन्स ने यों किया है—

'Wouldst thou the young year's blossoms and the fruits of its decline.

And all by which the soul is charmed enraptured, feasted fed ?

Wouldst thou the earth and heaven itself in one sole name combine ?

I name the, O Shakuntala, and all at once is said.

इसका म० म० वासुदेव विष्णु कृत संस्कृत रूपान्तर यह है :—

"वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥"

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्रुतबोध, शृङ्गार-तिलक शृङ्गाररसाष्टक, सेतुकाव्य, कर्पूरमंजरी, पुष्पबाणविलास, लक्ष्मीस्तव, चर्चास्तव, अम्बास्तव, नवरत्नमाला, रत्नकोश, नलोदय, श्यामलादण्डक, प्रश्नोत्तरमाला, ज्योतिर्विदाभरण, आदि जो अन्य ग्रन्थ कालिदास—रचित बतलाये जाते हैं, वे कालिदास नाम—धारी किन्हीं अन्य कवियों की रचनायें हो सकती हैं—जिस कालिदास से हमारा सम्बन्ध है, उसकी नहीं, क्योंकि ९०० ई० के आसपास विद्यमान कवि राजशेखर के निम्नलिखित कथन के अनुसार तब तक तीन कालिदास हो चुके थे :—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥

जन्मकाल—कालिदास का जन्मकाल संस्कृत-साहित्य के इतिहास में बड़ा विवाद-ग्रस्त विषय है और इसपर आलोचक गण अभी तक एक मत नहीं हो सके हैं। काल की अवर सीमा का प्रमाण तो हमारे पास ६२० ई० में वर्तमान बाण कवि है जिसने अपने हर्षचरित ग्रन्थ में कालिदास की प्रशंसा की है और साथ ही एहोल (Aihole) का शिला-लेख (६३४ ई०) भी प्राप्त हुआ है, जिसमें कालिदास का स्पष्ट नामोल्लेख है। इस आधार पर कालिदास का सातवीं शताब्दी (ई०) या, उससे पीछे होना तो असम्भव है। काल की पूर्ववर्ती सीमा प्रथम शताब्दी (ई० पू०) ठहरती है, क्योंकि कालिदास

कृत मालविकाग्निमित्र में वर्णित शुंगवंश-प्रवर्तक अग्निमित्र का काल प्रथम शताब्दी (ई० पू०) है और साथ ही कवि का आश्रयदाता विक्रमादित्य प्रथम-शताब्दी (ई० पू०) का है, जिसने ५६ (ई० पू०) अपना विक्रम-संवत् चलाया था। इन दोनों पूर्वापर-सीमाओं के बीच सन्देह-दोला में लटकता हुआ कवि का स्थितिकाल भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा अपने अपने विचारानुसार भिन्न भिन्न ही नियत किया जाता है। काल के विषय पर प्रचलित निम्नलिखित तीन वाद (Theories) हैं—

(१) छठी शताब्दीवाला कहरूर-वाद (the Korur theory)।

(२) पांचवी शताब्दीवाला गुप्तकालीन-वाद अथवा संस्कृत का पुनरुज्जीवनवाद (the theory of Renaissance)।

(३) प्रथम शताब्दी (ई० पू०) वाला वाद।

छठी शताब्दीवाला वाद—फर्गुसन (Fergusson) महोदय का विचार है कि कहरूर युद्ध भारतीय इतिहास में एक नया युगान्तर उपस्थित करता है, जिसमें उज्जयिनी के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने म्लेच्छों को पराजित करके, विजय के उपलक्ष्य में स्मारक-स्वरूप विक्रम संवत् चलाया और उसे प्राचीनता देने के लिये ६०० वर्ष पूर्व अर्थात् ५७ ई० पू० माना। इस मत की पुष्टि में कवि की रचनाओं में आये हुए यवन, शक, हूण पह्लव आदि जातियों का नामोल्लेख किया जाता है। हूणों ने ५०० ई० में भारत पर आक्रमण आरम्भ किया था, इस कारण कालिदास का स्थितिकाल उसके पश्चात् सिद्ध होता है और वह छठी शताब्दी ई० है। भारतीयों में के० बी० पाठक भी अभी तक इसी छठी शताब्दीवाले मत के समर्थक हैं।

कुछ समय तक तो यह मत प्रचलित रहा, क्योंकि तबतक प्राचीन अनुसन्धान के आधार पर कोई भी ऐसा शिला-लेख नहीं प्राप्त हुआ था, जो विक्रमसंवत् ६०० से पूर्व का हो, किन्तु हाल ही में मन्दसोर (Mandsor) का शिलालेख मिला है, जिसमें विक्रम-संवत् ४७३ उल्लिखित है।

इसमें वत्सभट्टि-रचित कुछ ऐसे भी पद्य[1] हैं जो कालिदास के ऋतु० और मेघ० के पद्यों का बलात् स्मरण करा देते हैं। इसके अतिरिक्त फर्गुसनवाले मत में 'विक्रमसंवत् ६०० पूर्व ही क्यों माना गया ?' इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं है। रघुवंश में आये हुए हूण आदियों को राजा रघु ने अपनी दिग्विजय में देश की सीमा से बाहर परास्त किया था, न कि उन्होंने भारत पर आक्रमण किया था। अब तो प्रो० आप्टे महोदय के अनुसन्धानों ने यह बात सिद्ध कर दी है कि प्राचीन भारतीय सीमा से बाहर बैक्टरिया से परे तीसरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० तक हूणों ने अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा था। इन युक्तियों के आगे फर्गुसन का छठी शताब्दी-वाला वाद धराशायी हो जाता है।

गुप्तकालीन-वाद--पाश्चात्य-विद्वानों में अधिकतर का विचार है कि गुप्तवंशी राजाओं का शासन-काल भारत के इतिहास में सुवर्ण-युग है। सम्राट् चन्द्रगुप्त [द्वितीय] ने शकों को भारत से बाहर निकालकर 'विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी और अपने से पूर्व प्रचलित मालव-संवत् को विक्रम-संवत् के नाम से चलाया था। 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण करने के उपलक्ष्य में विक्रमोर्वशीय और चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के उपलक्ष्य में कुमारसम्भव की रचना कालिदास-द्वारा की गई प्रतीत होती है। रघुवंश में वर्णित रघु के दिग्विजय में और प्रयाग की हरिषेणकृत प्रशस्ति में वर्णित समुद्रगुप्त [३३६–३७५ ई०] के दिग्विजय में बड़ी समानता मिलती है। मालवि० में वर्णित अश्वमेध समुद्रगुप्त-कृत अश्वमेध को ही लक्ष्य करता है। गुप्तकालीन लोगों का सम्पन्न तथा आनन्द-प्रमोदमय जीवन मेघ० [३०] के

१—चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥
वत्सभ०, मेघ० ६६

उज्जयिनी-वर्णन में तथा ऋतु० में भलीभाँति प्रतिबिम्बित हुआ मिलता है। विक्रम शब्द की तरह कविका √गुप् धातु तथा उससे बने गुप्त-आदि शब्दों का पुनः पुनः प्रयोग साभिप्राय है और इसमें अपने आश्रय-दाता गुप्तवंशीय सम्राटों की ओर व्यञ्जना है।

इसके अतिरिक्त प्रो० मैक्डॉनल [Macdonell] का संस्कृत-पुनरुज्जीवन वाद भी कालिदास का गुप्तकालीन होना सिद्ध करता है। मैक्डॉनल के अनुसार वेदों के काल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० तक संस्कृत का उन्नति-काल है। तत्पश्चात् मध्यान्तर काल आता है, जिसमें विदेशियों के सतत आक्रमण होते रहने के कारण साहित्य-कला प्रसुप्त रही। छठी शताब्दी में विक्रमादित्य के शासन के साथ संस्कृत का पुनर्जागरण हुआ और कालिदास इसी नये युग के प्रतिनिधि-रूप आदि-कलाकार हैं।

इस वाद की पुष्टि में यह भी कहा जाता है कि बौद्धकवि अश्वघोष [७८ ई०] के और कालिदास के काव्यों में कहीं-कहीं बहुत साम्य है। बुद्धचरित [सर्ग ३–१३–१९] में सिद्धार्थ का बाजार में पहली बार जलूस और रघुवंश [सर्ग ७, ५–१२] में अज का जलूस एक-जैसे हैं; बुद्धच० [सर्ग १३, ६] में मार का सिद्धार्थ पर आक्रमण और कुमार० [सर्ग ३, ६] में काम का शिव पर आक्रमण एक-से ही हैं। बुद्धच० में 'स्तन-तट से गिरे हुए वसनवाली किसी प्रसुप्त स्त्री की फेन से हँसती हुई तटोंवाली नदी से उपमा तथा मेघदू० [६५] में दी हुई उपमा में समानता है। इसी तरह सौन्दरानन्द में 'सोऽनिश्चयात् नापि ययौ न तस्थौ तरँस्तरङ्गेष्विव राजहंसः' (४. ४२) और कुमारसंभव में 'मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः' (५, ८५) की उपमाओं में भी बड़ा साम्य है। बहुत से अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं, जिनसे

१—विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना।
ऋजुषट्- पदपङ्क्तिजुष्टपादा जलफेनप्रसहसत्तटा नदीव।

यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास की कला स्व-पूर्ववर्ती अश्वघोष से बहुत प्रभावित है।

उपर्युक्त वाद में सन्देह के बहुत स्थान हैं और इसके विरुद्ध कुछ ऐसे प्रश्न भी उपस्थित होते हैं, जिनका हमें सन्तोष-प्रद उत्तर मिलना चाहिये। सर्व-प्रथम, चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना ही नया संवत् न चलाकर अपने से पूर्व प्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से क्यों चलाया? चन्द्रगुप्त के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपना जो गुप्त-संवत् चला रखा था, उसे ही क्यों न प्रचलित रहने दिया? इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा प्रचालित कहे जानेवाले विक्रम-संवत् का उसके अनन्तर की शताब्दियों में उल्लेख क्यों नहीं आया? चन्द्रगुप्त द्वितीय के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरनार-वाले शिलालेख में विक्रम-संवत् का उल्लेख न आकर गुप्त-संवत् का ही उल्लेख आया है। इसलिये चन्द्रगुप्त द्वितीय का विक्रम-संवत् चलाने की बात ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी कच्ची प्रतीत होती है। साथ ही एक और बात भी ध्यान देने योग्य है और वह यह कि गुप्तवंशीय सम्राटों में से किसी का भी नाम विक्रमादित्य नहीं था—चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपाधि मात्र थी। उपाधि लेने के लिए कोई पूर्ववर्ती विक्रमादित्य-नामक महान् सम्राट् अपेक्षित है, जोकि पर-वर्ती राजाओं का अनुकरणीय बने; अतः 'विक्रमादित्य' उपाधि-धारी चन्द्रगुप्त से बहुत पूर्व विक्रमादित्य नाम का कोई महान् सम्राट् हुआ होगा और वही कालिदास का असली आश्रयदाता हो—यह क्यों न माना जाय?। 'कुमार' 'गुप्त'-आदि शब्द व्यङ्ग्य अर्थ में न प्रयुक्त होकर अपने ही मुख्य अर्थ में भी तो प्रयुक्त हुए माने जा सकते हैं। इसीतरह रघुवंश के दिग्विजय का सम्बन्ध समुद्रगुप्त के अश्वमेध से न जोड़ कर किसी अन्य सम्राट् के अश्वमेध से भी तो जोड़ा जा सकता है। पुराणग्रन्थों में अनेकों दिग्विजयों का वर्णन आता है। मैकडॉनल के पुनरुज्जीवन काल से पूर्व का मध्यान्तर-

काल साहित्यिक रचनाओं से बिलकुल शून्य नहीं रहा है जैसा कि डा० पीटरसन (Peterson) और डा० बुहलर (Buhler) ने भी माना है। यदि कालिदास को नव-जागरण-युग का प्रथम कवि मान भी लिया जाय, तो इन्हें मैक्डॉनल द्वारा निर्दिष्ट काल से बहुत पहिले प्रथम शताब्दी (ई० पू०) में मानना पड़ेगा, क्योंकि वही नव-निर्माण-युग था। बाद के अनुसन्धानों ने तो अब मैक्डॉनल का पाँचवीं शताब्दीवाला पुनरुज्जीवन-वाद सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। अब रही अश्वघोष के साथ साम्यवाली बात। यह तो सिद्ध ही है कि अश्वघोष एक बौद्ध-दार्शनिक था और बौद्धसिद्धान्तों को जन-साधारण में प्रचार करना चाहता था जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार भी किया है; इसीलिये उसने काव्य-कला का आश्रय लिया था। प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य पाली-प्राकृत में लिखा हुआ मिलता है। अश्वघोष का प्राकृत के स्थान में संस्कृत को अपनाने का कारण यही हो सकता है कि उस समय तक संस्कृत का उत्थान हो चुका था और वह एक लोक-प्रिय भाषा बन गई थी, अत एव क्यों न कालिदास को ही अश्वघोष का पूर्ववर्ती मान लिया जाय, जिनके काव्य से अश्वघोष ने प्रेरणा ली है? कालिदास—जैसे विशाल प्रतिभा-वाले विश्व-वन्द्य कलाकार की अपेक्षा काव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण एक बौद्ध दार्शनिक का ही कालिदास से प्रेरणा लेना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, अश्वघोष का सम्बन्ध उस समय से है जब कि संस्कृत भाषा में कृत्रिमता आने लगी थी और शैली कालिदास की जैसी स्वाभाविक न रहकर कुछ जटिल और प्रयास-साध्य बन रही थी। प्रो० झाला महोदय ने अश्वघोष के निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है:—

"शमेऽभिरेमे विरराम पापाद् भेजे दमं संविबभाज साधून्"

(बुद्धच० २, २३)

"नाध्यैष्ट दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष्ट

(बुद्धच० २, ३५)

"यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित् कैश्चिन्न मीयते ।

काले निमीयते सोमां न चाकाले प्रमीयते' (सौन्दर० १, १५)

इन श्लोकों में भट्टि जैसे परवर्ती श्रेण्य (Classical) ग्रन्थकारों की गन्ध आ रही है ।

इन तर्कों के आधार पर छठी–शताब्दीवाले कहरूर वाद की तरह पाँचवीं शताब्दीवाला गुप्तकालीन वाद भी धराशायी हो जाता है ।

प्रथमशताब्दी (ई० पू०) वाला वाद—भारतीय विद्वान् प्रायः सभी प्रथम शताब्दी (ई० पू०) वाले वाद के समर्थक हैं । कवि के विक्रमादित्य से सम्बन्ध का तो कोई प्रत्याख्यान कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अन्तरङ्ग साक्ष्य से भलीभाँति सिद्ध ही है, किन्तु वे विक्रमादित्य आदि–विक्रमादित्य ही थे, जो मालवदेश के परमार-वंशीय राजा थे और जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी । प्रथम शताब्दी ई० में वर्तमान गुणाढ्यकृत कथासरित्सागर में वर्णित विक्रमादित्य वे ही प्रतीत होते हैं । सर्वप्रथम आक्रमण में शकों को उन्होंने ही परास्त किया था और विजय के उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० अपने नाम का विक्रमसंवत् चलाया था । उन्होंने ही म्लेच्छों का ध्वंस करके बौद्ध और जैन धर्मों को हटाकर वर्णाश्रम–धर्म का जीर्णोद्धार किया था । वे शिव के उपासक थे; उज्जैन में महाकाल शिव का मन्दिर उन्होंने ही बनवाया था । यही कारण है कि कालिदास की रचनाओं में शिव का तथा शिव की उपासना का अधिक उल्लेख है । इसके विपरीत गुप्तवंशीय सम्राट् वैष्णव थे और उनकी राजधानी पाटलीपुत्र थी, न कि उज्जयिनी, अतः उज्जयिनी के महेन्द्रादित्य के पुत्र परमार–वंशीय विक्रमादित्य ही आदि–विक्रमादित्य थे–यह आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसन्धानों द्वारा सिद्ध हो गया है । कालिदास उन्हीं आदि-विक्रमादित्य के आश्रय में रहे थे । विक्रमोर्वशीय नाटक में 'इन्द्र'

के स्थान में सर्वत्र 'महेन्द्र[1]' शब्द देकर कविने अपने आश्रयदाता के पिता महेन्द्रादित्य के नाम को भी अमर बनाना चाहा। उज्जयिनी की जनता के समक्ष जब यह नाटक खेला गया होगा, तो जनता को 'विक्रम' और 'महेन्द्र' शब्दों का पुत्र और पिता की ओर संकेत समझने में कोई कठिनता नहीं हुई होगी और यह नाटक सम्भवतः महेन्द्रादित्य के राज्यकार्य से अवकाश–ग्रहण और विक्रमादित्य के यौवराज्याभिषेक के अवसर पर खेला गया होगा। कालिदास का अपने रघुवंश में सूर्यवंशी राजाओं को कथा-नायक बनाने का कारण भी यही हो सकता है कि महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य उस राज–वंश से सम्बन्ध रखते हैं, जो आदित्य (सूर्य) से चला हुआ था। रघुवंश में दिलीप और उसके पुत्र रघु का वर्णन तथा कथा–सरित्सागर में आये हुए महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य का वर्णन परस्पर बहुत मिलते–जुलते हैं। इससे कालिदास उन्हीं आदि–विक्रमादित्य के सम–सामयिक प्रतीत होते हैं। मेघदूतमें आया हुआ वत्सराज उदयन का संकेत तथा मालविकाग्निमित्र का अन्तरङ्ग साक्ष्य भी कवि को प्रथम–शताब्दी (ई० पू०) की ही ओर खींचते हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० आप्टे महोदय शकुन्तला–नाटक से दो अन्तरङ्ग प्रमाण उद्धृत करते हैं; एक तो शकु० vi[2] में निस्सन्तान श्रेष्ठी धनदत्त की मृत्यू पर उसकी सम्पत्ति का उसकी विधवा को न मिलकर राज्य–अधिकार में चला जाना–इससे यह सिद्ध होता है कि कवि के समय में विधवा का पति

१–"दिष्टया महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्"

"प्रथमं पुत्रदर्शनेन विस्मृतास्मि। इदानी महेन्द्र-संकीर्तनेन स्मारितः समयो मम हृदयमायासयति"

"रम्भे, उपनीयता स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः"

२–समुद्र व्यवहारी·········धनमित्रो नाम्······विपन्नः अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसञ्चयः।

की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता था और ऐसा समय ई० पू० ही मिलता है जब कि मनु, आपस्तम्ब और वशिष्ठ स्मृतिकारों की ही तूती बोलती थी, और बृहस्पति शङ्ख, लिखित तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ नहीं लिखी गई थीं। दूसरा प्रमाण है शकु० vi[1] में अँगूठी चुराने के अपराध में वध-दण्ड, जो रत्न चुराये जाने पर विक्रमो०[2] (v १) में भी आता है यद्यपि चोर वहाँ पक्षी था। चोरी के लिये कठोर प्राण-दण्ड का विधान मनु और आपस्तम्ब का किया हुआ है, जो उत्तरोत्तर हल्का किया जाता हुआ बाद को बृहस्पति स्मृति में अर्थ-दण्ड के साथ विकल्प-रूप में (optional) रह गया। इन दो घटनाओं से सिद्ध होता है कि कालिदास अवश्य बृहस्पति के पूर्वतन काल से सम्बन्ध रखते हैं और बृहस्पति को सर्व-सम्मति से प्रथम शताब्दी (ई०) का माना गया है। इसके साथ-साथ कालिदास की भाषा और शैली भी मध्ययुगीय दण्डी, बाण, भवभूति आदि की तरह कृत्रिम, समास-बहुला और प्रयास---साध्य नहीं है और यह एक ऐसी बात है, जो कालिदास का काल उनसे ६ अथवा ७ शताब्दी पहले रखती है। कालिदास के कुछ अप्रसिद्ध प्रयोग भी, जो पाणिनि-नियमों को तोड़कर किये गये हैं, उस ही काल की ओर संकेत करते हैं। इन सब प्रमाणों और उपपत्तियों से यही सिद्ध होता है कि कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी (ई० पू०) है। पाश्चात्त्य विद्वानों में डा० पटिरसन (Dr. Peterson) भी इस ही मत के समर्थक हैं।

जन्मस्थान---जन्म-काल की तरह कालिदास के जन्म-स्थान पर भी मत-भेद पाया जाता है। भारत की भिन्न-भिन्न भूमियाँ अपने-अपने को इस 'बच्चे' की 'जननी' बनने का दावा करती हैं। काश्मीरी लोगों का कहना है

१-"जानुक, प्रस्फुरतो मम हस्तौ अस्य वधार्थम् सुमनसः पिनद्धुम्।"
"नार्हसि भावोऽकारणमारणं भावयितुम्।"

२-"आत्मनो वधमाहर्त्ता-" इत्यादि।

कि कालिदास काश्मीर भूमि के थे, क्योंकि इसकी रचनाओं में हिमालय, उसमें होनेवाले पदार्थ तथा केशर-पुष्प का वर्णन आता है; 'प्रत्यभिज्ञान' का पुनः पुन: प्रयोग करके कालिदास ने काश्मीर के प्रत्यभिज्ञान-शैवसम्प्रदाय की ओर ही संकेत किया है। बंगाल के विद्वान् कालिदास को काली माता की उपासनावाली दन्त-कथा का आश्रय लेकर कवि को बंगदेशीय कहते हैं, क्योंकि काली की उपासना का अधिकतर प्रचार बंग-देश में ही है। इसी तरह विदर्भ (बरार), मालव और यहाँ तक कि सिंहल की भूमि भी कवि की जन्म-दात्रियाँ बनने का दावा करती हैं, किन्तु 'बच्चा' अपने मुख से कुछ भी नहीं कहता कि अमुक उसकी जननी है; वह तो केवल मुस्करा देता है उस माँ की ओर जिसने उसे पाला-पोसा है और वह माँ उसकी उज्जयिनी है। उज्जैन के महाराज विक्रमादित्य की राजसभा में इनका जीवन व्यतीत हुआ-इस तथ्य के साथ-साथ इनके हृदय में अवन्ती देश (मालव का भाग विशेष) के प्रति, जिसकी राजधानी उज्जयिनी है विशेष पक्षपात दृष्टिगोचर होता है और उज्जयिनी के वर्णन में—विशेषतः मेघदूत में, इन्होंने उसके प्रति जो पुत्र का सा अनुराग दिखलाया है, उससे हम इसी निष्कर्ष में पहुँचे हैं कि कालिदास उज्जयिनी के थे।

कला—कालिदास की कृतियाँ जगत् के साहित्य में अपना एक अद्वितीय स्थान रखती हैं। इनके सारे ग्रन्थ—क्या तो महाकाव्य, क्या गीति-काव्य और क्या नाटक-कला की आलोचनात्मक किसी भी कसौटी पर कसे जाने पर सोने की तरह ऐसे खरे और उत्कृष्ट निकलते हैं कि क्या कहें। भाव, कल्पना, आदर्श और भाषा—इन आधार-स्तम्भों पर खड़ा हुआ साहित्य-कला को जो विशाल भव्य भवन इनकी रचनाओं में हमें मिलता है, उसके किसी भी प्रकोष्ठ में या प्रकोष्ठ-कोण में चले जाइए—सभी जगह एक-सी अनुपम रचना-चातुरी, एक-सी अतुल सौन्दर्यच्छटा अंकित मिलेगी, जो

दर्शक गण को आनन्द-मुग्ध कर देती है। इनकी रचनाओं का भाव-तत्त्व, जिसे साहित्यिक परिभाषा में रस अथवा काव्यात्मा कहते हैं, कल्पना की विविध उड़ानों तथा उदात्त आदर्शोंसे सुन्दर समन्वय पाकर अपना ऐसा अच्छा परिपाक दिखाता है कि जिससे इनकी कला सर्व-श्रेष्ठ बन जाती है। साहित्यिक दृष्टि से सर्व-श्रेष्ठ होने के साथ-साथ वे पाठकों के आगे अपने में प्रतिबिम्बित तत्कालीन समूचे भारत को भी खड़ा कर देती हैं। महाकवि शेक्सपियर के शब्दों में 'कवि-चक्षु, अपने उत्तेजित क्षण में आकाश से पृथिवी तक और पृथिवी से आकाश तक घूमती है और ज्यों ही 'कल्पना' अज्ञात वस्तुएँ गढ़ने लगती हैं 'कवि लेखनी' उन्हें साकार रूप में परिणत कर स्थानीय वसति और नाम दे देती है। कालिदास का अन्तर्वर्ती कवि भी भारतीय जीवन के अन्तस्तल में पैठ कर अतीत के गर्भ में से कुछ टेढ़ी-मेढ़ी धुँधली-सी रेखाओं को निकालता है और फिर उनमें कला की कूची से विविध रंग भर कर ऐसे उत्कृष्ट और सजीव चित्र हमारे सामने खड़ा करता है कि जिनमें समूची भारतीयता मुखरित हो जाती है। इनके रघुवंश के चरित-नायकों में से दिलीप की पुत्र-प्राप्ति में विवाह की परिनिष्ठा, गौ-सेवा एवं गौ-सेवार्थ प्राणार्पण तक की भावना, रघु की इन्द्र से भी लोहा लेने की विक्रांत भावना, दिग्विजय एवं अन्ततोगत्वा सर्वस्व दक्षिणयाग में सर्वस्व-दान; इसी तरह अज, दशरथ, राम आदि के उदात्त जीवन-चित्र, तथा कुमार-संभव अथवा शाकुन्तलादि नाटकों में क्या तो नायक, क्या नायिका और क्या अन्य पात्र—सभी आर्य-संस्कृति के उन उच्च आदर्शों के निदर्शन हैं, जो संसार में अन्यत्र कहीं ढूंढे भी प्राप्त नहीं हो सकते। वास्तव में कालिदास भारत के सच्चे प्रतिनिधि-कवि हैं।

प्रकृति-प्रेम—कला में सौन्दर्याधान करने के लिये एक सफल चित्रकार की तरह कवि प्रकृति को पृष्ठ-भूमि बनाता है, इसी लिये कालिदास भी प्रकृति के पक्के पुजारी बनकर अन्तर्जगत् के सौन्दर्य को बहिर्जगत् में भी

देखते हुए दोनों में समन्वय ही नहीं, प्रत्युत तादात्म्य भी स्थापित करना चाहते हैं। इनकी प्रकृति जड़-प्रकृति नहीं। इनकी दृष्टि में प्रकृति का प्रत्येक अंश—क्या तो बड़ा सा बड़ा पर्वत और क्या छोटा सा छोटा पुष्प—अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखे हुए ऐसा ही चेतन है जैसा कि कोई मानव या देव। चेतनों की तरह ही उनमें भी सुख-दुःख का संवेदन और आशा-निराशा एवं भय-हर्ष की अनुभूति है। एक तरफ इनके ऋतुसंहार में मानव-हृदय के उद्दाम प्रणय के थपेड़े सारी प्रकृति में प्रतिफलित हुए मिलते हैं, तो दूसरी तरफ शकुन्तला के पति-गृह जाने के अवसर पर कोई वृक्ष 'क्षौम' देने लगता है तो कोई लाक्षारस और उसके चले जाने पर गृह-ललनाओं की भाँति लताएँ भी 'पाण्डुपत्रों' के आँसू गिराने लग जाती हैं तथा मृगियाँ भी 'दर्भ-कवल' उगल देती हैं जैसे कि शकुन्तला-वृक्षलतादि सबके सब परस्पर सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए एक ही विशाल परिवार के सदस्य हों। कवि को विश्व की अनेकता में यह एकता का दिव्य दर्शन भारतीय ऐकात्म्यवाद की पृष्ठ भूमि पर हुआ प्रतीत होता है।

कालिदास के प्रकृति-वीक्षण के सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि इनकी निशित दृष्टि मानव-प्रकृति की तरह बाह्य-प्रकृति के भी अन्तरतम स्तर में घुस जाती थी, तथापि इन्होंने प्रकृति-वर्णन में उसके कान्त, कोमल एवं मधुर पहलू को ही चित्रित किया है, उदग्र, भीषण एवं भद्दे पहलू को नहीं। ये प्रकृति को अधिकतर एक नायिका के रूप में देखते हैं, जिसमें सरसता, सहृदयता और प्रेम का अनवच्छिन्न स्रोत फूट रहा हो और जो दुःखाकुल मानव हृदय को आशा और सान्त्वना का सन्देश देती हो। इनके प्रकृति-चित्रण में हमें कहीं तो वायु के झंकोरों से फड़फड़ाते किसलय-करों से ताल देते तथा भ्रमर-झंकार से मधुर संगीत छोड़े हुए लता-नर्तकियाँ नाच रही हैं, तो कहीं चन्द्र अपनी किरण-रूपी अंगुलियों से रजनी के बिखरे हुए

अन्धकार–रूपी केशों को हटाकर उसके प्रदोषकाल–रूपी मुख को चूम रहा है ।' मेघदूत तो सारा का सारा ही प्रकृति में नायिकात्व की कोमल भावना का एक बृहत् निदर्शन है । कालिदास तथा तत्परवर्ती कवियों का प्रकृति में यह मानवता का आरोप ही बाद को हिन्दी में छायावाद का बीज बना है ।

शैली––संस्कृत-काव्यों अथवा नाटकों में कालिदास की शैली अपना एक विशेष स्थान रखती है। इन्हें जो विश्व-प्रतिष्ठा मिली है, उसका बहुत कुछ श्रेय इनकी शैली को है । कैसा भी नीरस और भद्दा कथानक अथवा घटना क्यों न हो, उसे ये अपने कल्पना-प्रसूत अद्भुत सृष्टि-नैपुण्य-द्वारा ऐसा भव्य, मार्मिक और चमत्कृति-पूर्ण बना देते हैं कि वह देखते ही बनता है । निस्सन्देह इतिहास के गर्तों में से इन्होंने कथानक लिये हैं, किन्तु निरे कङ्काल-मात्र ही । मांस-रुधिर, नख-शिख, भूषा और अन्त में रस का प्राण फूंकते हुए उन्हें सजीव बनाकर सदा के लिए अमर कर देना—ये सब कालिदास की अपनी ही चीजें हैं ।

कालिदास की लिखने के लिये वैदर्भी शैली है और दण्डी के—"तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्" इस कथनानुसार इस शैली के शोधन का सर्व प्रथम श्रेय इन्हें ही है । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वैदर्भी रीति का निम्नलिखित लक्षण दिया है :—

माधुर्यं व्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।। (ix. 3)

अर्थात् ऐसी ललितपद-रचना, जिसमें वर्ण माधुर्य उगल रहे हों, और वृत्ति (समास) न हो अथवा यदि हो भी, तो छोटी ही वैदर्भी रीति होती है । इसके अनुसार भाषा में क्लिष्टता, प्रयास-साध्यता एवं कृत्रिमता सर्वथा हेय हैं। भाषा ऐसी ललित, स्वाभाविक तथा सरल होनी चाहिए कि सुनते ही कानों में अमृत घोलकर तत्काल अर्थबोध करा दें। ये सब

बातें हमें कालिदास की सभी रचनाओं में प्राप्त होती हैं और इनकी यह ललित, परिष्कृत तथा प्रसादगुण-पूर्ण शैली ही इनको सर्वप्रिय बनाने में अधिक सहायक सिद्ध हुई।

मानव-हृदय के भावों को व्यक्त करने का प्रकार भी कालिदास का अनोखा ही है। ये शब्दों की व्यञ्जना-शक्ति पर अधिक बल देते हैं, अभिधा-शक्ति पर कम। इस कारण इनके भाव सदा व्यङ्ग्य ही रहते हैं, वाच्य नहीं होते और भावों की यह व्यङ्ग्यता ही काव्य-जगत् की सर्वश्रेष्ठ विभूति है, जो इनकी सभी कृतियों में ओत-प्रोत हुई मिलती है। एक छोटे से उदाहरण के रूप में—[१]कुमारसम्भव में महादेव के साथ अपने विवाह की बात सुनकर पिता के आगे पार्वती लजा गई, किन्तु कवि 'लजा गई' क्यों कहता, उसे तो 'मुख नीचे किये हुए अपने हाथ पर के कमल की पंखुड़ियों को गिनने लगी' कहकर व्यञ्जना द्वारा ही लज्जा-भाव का मार्मिक चित्र खींचना था। भावों की व्यङ्ग्यता के साथ-साथ कवि उनको अपने ठोस और अखण्ड रूप में ही रखना पसन्द करता है, उनकी 'चीरफाड़' नहीं करता। दुष्यन्त प्रेम से आहत-हृदय होने के अनन्तर जब फिर शकुन्तला को देखते हैं, तो उस समय उन्हें अपार आनन्द होता है। कालिदास ने—'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्' कह कर अकेले 'निर्वाणम्' पद से ही उनके अनिर्वचनीय आनन्द का बोध करा दिया है। इसके विपरीत भवभूति को देखिये कि वह वैसे ही आनन्द का कैसा विश्लेषण करता है जब कि सीता को दोबारा घर से निकाल देने के अनन्तर एक दिन बन में राम की उससे भेंट हुई, तो उसके कर-स्पर्श का उनको ऐसा आनन्द हुआ कि जो "संभवतः[२] कल्पवृक्ष के किसलयों से निचोड़ा हुआ रस था अथवा चन्द्रमा के किरण-समूह को दबाकर निकाला गया द्रव था, अथवा विरह

१—vi—84. २—उत्तर० III-11.

की आग से जले हुए प्राणों को शीतल बनाने के लिये हृदय पर सञ्जीवनी औषधि का लेप था।" स्पष्ट है कि भाव व्यञ्जन में कालिदास ने तो अधिकतर संश्लेषणात्मक, (synthetic), शैली ही अपनायी है, विश्लेषणात्मक (analytic) नहीं।

कालिदास ने अपनी रचनाओं में अलङ्कारों का भी स्थान-स्थान में प्रयोग किया है, जो नितान्त दर्शनीय है। इनके अलंकार स्वाभाविक रूप में ही आते हैं और इनकी कविता-कामिनी के सौन्दर्य में निरन्तर वृद्धि ही करते हैं। कहीं-कहीं अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं तो सही, किन्तु बहुत कम और वही जो अनायास ही घुस आये हैं। बलात् अलंकारों को लादने की चेष्टा कवि ने कहीं नहीं की है, क्योंकि उससे रस का स्वाद ही बिगड़ जाता है। इन्होंने अपनी कृतियों में अर्थालंकारों को अधिक महत्त्व दिया है और उनमें भी विशेषत: उपमा को, जिसके कारण ही इनकी जगत् में—'उपमा कालिदासस्य' यह ख्याति हुई है। वास्तव में देखा जाय, तो उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की मूलभित्ति उपमा ही है और इसी कारण कवि को वह अधिक रुची। कालिदास की उपमायें बड़ी स्वाभाविक सरस तथा मार्मिक होती हैं, अत एव वे जगत में अद्वितीय हैं। जिस बात को बतलाने के लिये बहुत शब्द, विस्तार अपेक्षित होता है, वह इनकी एक छोटी सी उपमा द्वारा बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के रूप में—'मार्ग में आये हुए किसी चट्टान से टकराती हुई नदी की तरह पार्वती महादेव को देखकर न तो जा ही सकी और न ठहर ही सकी', 'नगर की महिलायें आनन्द-भरीं आँखों से राजकुमार का इस प्रकार अनुसरण कर रही थीं जिस तरह कि रातें शीतकाल के चमकते हुए तारों से ध्रुव का अनुसरण करती हैं', 'राजा लोग बाहरी प्रसन्नता में हृदय की ईर्ष्या को छिपाये हुए थे जैसे कि बाहर की शान्त

गहराई में ग्राहों को छिपाये हुए झीलें', 'मृत्यु-द्वार-सा बाण का घाव'—इत्यादि कैसी सरस एवं मार्मिक उपमाएं हैं। उपमा के अतिरिक्त कवि ने उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त रूपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास—आदि अलंकारों का भी अच्छा प्रयोग किया है। स्वभावोक्ति में तो ये बहुत ही निपुण हैं। मेघदूत में उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास का बड़ा अच्छा निदर्शन है।

चरित्र-चित्रण की शैली भी कालिदास की बड़ी अनूठी है। नपे-तुले शब्दों में ये अपने पात्रों का व्यक्तित्व तत्क्षण ही पाठकों के मानस-चक्षु के आगे खड़ा कर देते हैं। शकुन्तला को 'तनुगात्री' तथा विरह-पीड़ित यक्ष-पत्नी को 'शिशिर-मथिता पद्मिनीव' कहते ही उन दोनों का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। ललित पद-विन्यास, प्रचुर प्रसादगुण, मधुर भाव-व्यञ्जना, सरस अलङ्कार तथा सजीव चरित्र-चित्रणवाली शैली के कारण ही कालिदास को विश्वप्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इनकी मधुर सूक्तियों से मुग्ध होकर ही बाण ने विश्व को यह चुनौती दी थी:—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते?

अर्थात्—कालिदास की आम्र-मञ्जरियों की तरह सरस और मधुर सूक्तियों को सुन कर किसके हृदय में आनन्द नहीं पैदा होता?

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठकविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस महाकवि की निम्नलिखित शब्दों में वन्दना की है—

"चिरकाल रसाल ही रहा जिस भावज्ञ कवीन्द्र का कहा—
जय हो उस कालिदास की कविता-केलि कला-विलास की।

प्रेम—कालिदास शृंगार-रस के कवि थे। इन्होंने मानव-हृदय की प्रेमवृत्ति को लेकर ही अपनी अधिकतर कृतियों में उसकी व्याख्या की है। साहित्यिकों के इस कथन पर कि शृङ्गार सब रसों का राजा है, बहुत कुछ सत्यता है,

क्योंकि प्रेम मानव-हृदय के भाव-जगत् में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है; वह उसका अधिपति है; इसी लिए कालिदास के 'कलाकार' ने जगत् को 'प्रेम-दृष्टि' से देखा और उसकी सारी रचनायें शृङ्गार-प्रधान हो गईं। कवि के ऋतु० से लेकर शाकुन्तल तक सारे ग्रन्थ प्रेम के क्रमिक विकास की एक विस्तृत कहानी है। ऋतु० में प्राकृतिक सौन्दर्य से अनुगत युवा-युवतियों की प्रेम-सरिता खूब तरंगे मार रही हैं और यही बात मालवि० में मालविका और अग्निमित्र के कथानक में भी मिलती है, किन्तु इन दोनों रचनाओं में यह प्रेम केवल शारीरिक सौन्दर्य एवं उसके आकर्षणों पर अवलम्बित तथा ऐन्द्रियिक परितृप्ति में परिनिष्ठित हुआ अपने भौतिक पहलू को, अपने प्रारम्भिक वासना-रूप को ही व्यक्त करता है; उससे आगे नहीं जाता। वास्तव में कवि ने इन दोनों ग्रन्थों में प्रेम की पृष्ठभूमि बतलाकर प्रेम का उपक्रम-मात्र किया है। कुमार० और विक्रमो० हमें प्रेम-विकास की दिशा में दूसरी सोपान पर चढ़ाते हैं। उनमें कवि ने प्रेम में पर्याप्त सुधार किया है। भौतिकता के दलदल में से उठाकर उसे आध्यात्मिकता के क्षेत्र पर प्रतिष्ठापित किया—एक ओर तो वासना की भूखी उर्वशी को प्रायश्चित्त-स्वरूप लता में परिवर्तित करके और दूसरी ओर निज सौन्दर्य पर गर्वोन्मत्त पार्वती को तपोवन में उतार करके। मेघदूत तो सारा एक विरहानल-कुण्ड ही है, जिसमें कवि द्वारा यक्ष का प्रेम वासना-मल दूर करने के लिये खूब फूका जा रहा है। अपनी अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ कृति शाकुन्तल में कालिदास ने भौतिक रूप से प्रारम्भ हुए प्रेम में वासना कर्दम को क्रमशः धोते-धोते अपने आध्यात्मिक रूप में परिनिष्ठित करवा कर उसे दिव्य और अमर बना दिया और यही भारतीय संस्कृति का आदर्श-प्रेम है। कतिपय पाश्चात्य और भारतीय विद्वान् कवि की रचनाओं में कामुकता का आरोप लगाकर उनसे नाकभौं सिकोडते हैं, किन्तु वे भ्रम में हैं।

कालिदास कर्तव्य-पथ से गिरा देनेवाले उच्छृङ्खल, भोग-परक प्रेम का कभी पक्षपाती नहीं है। ऐसे प्रेम को तो इन्होंने मेघदूत में स्वामी के शापसे, कुमारसंभव में महादेव के रोष से और शाकुन्तल में दुर्वासा ऋषि के शाप से फूंक ही डाला। एमर्सन के शब्दों में कवि उद्धार कर देनेवाले देव (Liberating Gods) होते हैं। वे हमारी भावनाओं में प्रवेश करके उन्हें परिष्कृत करते हुए समाज को उठाते ही हैं, गिराते नहीं। इसलिए कालिदास की रचनाओं में जहां कला के 'सत्यम्' और 'सुन्दरम्' अंश हैं वहां उनके साथ साथ 'शिवम्' अंश भी पूरा पूरा है।

काव्य और उसके भेद—रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो, अभिनीत होकर देखा जा सके। इसके भीतर शाकुन्तल आदि नाटक आते हैं। श्रव्य काव्य पढ़ा और सुना ही जा सकता है। इसके तीन भेद होते हैं पद्य, गद्य और चम्पू (गद्य-पद्य-मिश्रित)। पद्य-काव्य भी तीन प्रकार के हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्त-काव्य।

महाकाव्य—यह एक विस्तृत काव्य होता है, इसमें किसी प्रख्यात राजा या एक ही वंश के अनेक राजाओं का पूरा पूरा जीवन-वृत्तान्त होता है। नगरों, ऋतुओं, सूर्य-चन्द्रोदयों, वन-विहार, जल-क्रीडा, यज्ञ, यात्रा आदियों के वर्णन करने का भी नियम है। शृंगार, वीर अथवा शान्त—इनमें से कोई एक रस प्रधान रहता है और दूसरे उसके अङ्ग। सारा कथानक सर्गों में विभक्त रहता है। कुमार-संभव और रघुवंश कालिदास के महाकाव्य हैं।

खण्डकाव्य—यह आकार में महाकाव्य से बहुत छोटा होता है। इस को गीति-काव्य भी कहते हैं। यह महाकाव्य का एक खण्ड ही होता है, क्योंकि इसमें समूचा जीवन-वृत्तान्त नहीं होता है, प्रत्युत जीवन के किसी एक ही पहलू या एक ही वृत्ति—जैसे प्रेम, धर्म या नीति की व्याख्या होती है। जो

भेद एक उद्यान और उसमें होनेवाले एक पौदे में है, वही भेद महाकाव्य और खण्डकाव्य में है।

मेघदूत––यह संस्कृत-साहित्य के गीति-काव्यों में सर्व-प्रथम गिना जाता है। कालिदास की परिपक्व कला, कल्पना की ऊँची उड़ान, परिष्कृत माधुरी-भरी भाषा, विषय की धारावाहिक गति, एवं गीति की एकतानता का यह एक ऐसा अद्‌भुत नमूना है कि जिसकी टक्कर का विश्वंभर में दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। मेघदूत 'मन्दाक्रान्ता' में लिखा हुआ १२१ श्लोकों का छोटा सा काव्य है। इसमें कुबेर के शाप से प्रिया-वियुक्त हुए एक यक्ष के व्यथित हृदय की वेदना-भरी कहानी है, हृदय को द्रवित कर देनेवाली 'विप्रलम्भ' की एक करुण-गीतिका (Elegy) है। यह दो भागों में विभक्त है––पूर्वमेघ और उत्तरमेघ।

पूर्वमेघ––प्रिया के प्रति अन्ध-प्रेम के कारण अपने कर्तव्य से प्रमत्त एक यक्ष यक्षेश्वर कुबेर द्वारा वर्ष भर के लिये अलकापुरी से निकाला गया। बेचारे ने विन्ध्याचल में रामगिरि पर डेरा डाला और वहीं आश्रमों में रहने लगा। एक दिन उसे आषाढ़ मास के प्रारम्भ में पहाड़ की चोटी पर उमड़ा हुआ बादल दिखलाई दिया; तत्काल उसका हृदय भर आया। 'मेघ के दिखाई देने पर सुखी मनुष्य का भी चित्त डगमगा जाता है, फिर उसका तो कहना ही क्या, जो प्रिया को गले लगाना चाहता है, किन्तु दूर पड़ा हुआ है।' यक्ष ने फिर मिलने की आशा में वियोग के दिनों को गिनती हुई अपनी प्रिया को मेघद्वारा कुशल-समाचार पहुँचाना चाहा, अत एव पुष्पादिक से मेघ का स्वागत करके यों प्रार्थना की:––"हे भाई! सन्तप्तों के तुमही एक-मात्र सहारे हो; तुम्हें उत्तरदिशा की ओर जाना है; वहां अलकापुरी में जाकर एक छोटा-सा सन्देश मेरी प्रिया को पहुंचा देना। देखो, कैसी मन्द-मन्द पवन चल रही ह; चातक पक्षी तुम्हारी बाईं ओर होकर बोल रहा है, बगुलों की पंक्तियां

आकाश में उड़ रही हैं और साथ ही बाम्बी से यह इन्द्रधनुष भी प्रकट हो गया है । ये सब तुम्हारी यात्रा के लिए शुभ शकुन हैं, किन्तु मैं सन्देश कहूँ और तुम प्रस्थित हो—इससे पूर्व मैं तुम्हें रास्ता बता देना चाहता हूँ । 'ग्रामीण युवतियों की भोलीभाली आनन्द-भरी आँखों से पिये जाते हुये' तुम माल को पार करके आम्रकूट पहुँचना । वहां से कुछ परे तुम्हें विन्ध्याचल की उन्नतावनत तलहटीमें विभिन्न धारायें बनाकर बहती हुई रेवा नदी मिलेगी । वहां से तुम दशार्ण देश को जाना, जहां जामुन के वन पके हुए फलों से काले बने होंगे । राजधानी विदिशा में प्रवेश करके 'प्रिया के भ्रूभङ्ग-युक्त मुख की तरह' चञ्चल तरंगोंवाली वेत्रवती का जल पीना और नीचे पर्वत पर विश्राम लेना । वहां से चलकर यद्यपि तुम्हारे लिए मार्ग कुछ टेढ़ा पड़ेगा, तथापि उज्जयिनी जाये विना न रहना, क्योंकि वह ऐसी सुन्दर नगरी है मानो स्वर्ग की ही एक टुकड़ी भू पर लायी हुई हो । 'यदि वहां अटारियों में रहनेवाली ललनाओं की बिजली की चमक से भीत एवं चञ्चल चितवनों का स्वाद नहीं लोगे, तो तुम्हारी आंखें एक महान् लाभ से वञ्चित ही रहेंगी' । अतः निर्विन्ध्या को पार करके तुम अवन्ती देश में प्रविष्ट होना और फिर तुम उज्जयिनी पहुँच जाओगे । वहाँ बाजारों में विक्रयार्थ सजा कर रखे हुए हीरे, पन्ने, मोती आदियों के ढेर के ढेर देखकर तुम्हें ऐसा प्रतीत होगा मानो समुद्र में अब पानी के अतिरिक्त और कुछ रहा ही नहीं । पास ही में महाकाल का मन्दिर है । वहां तुम शिवजी की सायंकालीन पूजा के समय जाना जिससे कि गर्ज कर तुम नगाड़े का काम दे सको । वह रात उज्जयिनी में ही बिता कर प्रातःकाल फिर चल पड़ना और गम्भीरा को पार करके देवगिरि को जाना । वहाँ स्कन्द रहते हैं । पुष्पमेघ बनकर उनपर फूलों की वर्षा करना; तदनन्तर तुम चर्मण्वती नदी प्राप्त करोगे; उससे परे दशपुर आयेगा, जहाँ की स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य के लिये प्रख्यात हैं । वहाँ से तुम कुरुक्षेत्र पहुँचोगे, जहां अर्जुन ने क्षत्रियों के ऊपर इस तरह बाण बरसाये थे जिस तरह तुम कमलों पर बौछार बरसाते

हो। वहां सरस्वती का जल पीना और आगे कनखल चले जाना, जहां परम-पावनी गङ्गा मैदान में बहने के लिये हिमालय से उतरती हैं। उसका भी जल पीकर जब तुम आगे बढ़ोगे, तो तुम हिमालय पहुँच जाओगे। यहाँ देवदारु वृक्षों के घने तन के वन मिलेंगे; कहीं कस्तूरी मृगों की सुगन्धि आती रहेगी और कहीं शरभ तुम्हारी गर्जना सुनकर तुमसे टक्कर लेने के लिए आकाश में उछलेंगे। वहां तुम्हें मीठे स्वर से गाती हुई किन्नरियां भी दिखाई देंगी; वायु से भरे हुए बाँस अपनी बाँसुरी बजा रहे होंगे, तो तुम भी गरज कर मृदङ्ग का काम देना। इस तरह हिमालय की सब विशेषताओं को देखते देखते चलो; तब विश्राम लेने के लिए तुम उसकी किसी चोटी पर बैठ जाना। फिर वहां से उत्तर की ओर चलकर क्रौञ्च-रन्ध्र से तुम कैलास पहुँच जाओगे, जहां शिवजी रहते हैं। उस पर्वत की गोदी में बसी हुई अलकापुरी को तुम उसके ऊँचे-ऊँचे प्रासादों से तत्काल पहचान लोगे।"

उत्तरमेघ—"हे मेघ, अलकापुरी के प्रासादों का क्या वर्णन करूं। उन्हें तुम अपनी तरह ही आकाश से बातें करते पाओगे। उनके फर्श मणियों के हैं और दीवारें विविध चित्रों से सज्जित एवं रत्नों से जटित हैं। वहां ऐसी-ऐसी सुन्दरियाँ हैं, जो तुमने कभी देखी ही न होंगी; वृक्ष बारह मास फूलते रहते हैं; प्रत्येक सांझ नित्य प्रति चाँदनी से उज्ज्वल हुई रहती है। वहाँ आंसू गिरते हैं, तो आनन्द में ही; ताप होता है, तो काम का ही और कलह होता है, तो प्रेम का ही; यौवन ही एक मात्र अवस्था है; बुढ़ापा आदि नहीं। गृहों में सब प्रकार की विभूतियाँ और सुख-सामग्री नित्य उपस्थित रहती है। वसन-भूषण आदि जिस वस्तु की आवश्यकता हो, कल्पवृक्ष तत्काल पूरी कर देता है। अभिप्राय यह कि वहाँ सर्वत्र प्रेम और आनन्द का साम्राज्य है। इसी नगरी में कुबेर के भवन से उत्तर की ओर मेरा गृह है, जिसका विविधरत्न-जटित बहिर्द्वार तुम्हें दूर से ही इन्द्र-धनुष सा-चमकता हुआ दृष्टिगोचर होगा। उसके भीतर

एक मन्दार वृक्ष है, जिसे मेरी प्रिया ने पाला है; पास ही एक बावड़ी भी है, जिसकी सीढ़ियाँ मरकत-मणियों से निर्मित हैं और जिसके एक किनारे पर तुम्हारे जैसा ही एक क्रीडा-पर्वत है। उद्यान में एक रक्ताशोक और एक बकुल वृक्ष भी है। इन सब चिह्नों तथा द्वार पर चित्रित शंख और पद्म से मेरी अनुपस्थिति के कारण सूने-से पड़े हुए मेरे घर को तुम तत्काल पहिचान लोगे। भीतर तुम्हें 'युवतियों में ब्रह्मा की आदि सृष्टि सी एक सुन्दरी दिखलाई देगी, जो शरीर से दुबली, कमर से पतली और स्तनों से झुकी हुई होगी और जिसकी आंखें तो डरी हुई हिरनियों की तरह चञ्चल होंगी, किन्तु चाल नितंब-भार के कारण अलसाई सी होगी, उसे मेरी पत्नी समझना। वह चक्रवाकी की तरह अकेली है, क्योंकि उसका सहचर मैं दूर पड़ा हुआ हूँ। मेरे वियोग के दुःख में बेचारी तुषार-पात से मारी हुई पद्मिनी की तरह कुछ की कुछ हो गयी होगी। उसे तुम कभी तो मेरा चित्र बनाने का विफल प्रयत्न करती हुई पाओगे और कभी गोद में वीणा रखकर मेरे नाम की गीतिका द्वारा व्यर्थ ही मनोविनोद में लगी हुई देखोगे। कभी वह मैना से यों बातें करती होगी--"ओ मीठा बोलनेवाली, क्या तुझे भी कभी अपने स्वामी की याद आती है? उनके लिये तो तू बड़ी प्यारी थी।" कभी वह वियोग के शेष महीनों देहली पर रखे हुए पुष्पों से गिनती होगी। तुम पहले तो—मैं तुम्हारे पति का मित्र हूँ—यों अपना परिचय देना और तदनन्तर मेरा यह सन्देश कहना—

"प्रिये, मैं प्रियंगु लताओं में तुम्हारे शरीर की, भय-भीत हुई मृगियों की दृष्टि में तुम्हारे चितवन की, चन्द्रमा में तुम्हारे मुख-सौन्दर्य की, मयूरों के पुच्छों में तुम्हारे केशपाश की और नदियों की तरंगों में तुम्हारे भ्रू-विलास की कल्पना करता रहता हूँ, किन्तु बड़ा दुःख है कि उनमें से किसी में भी तो तुम्हारे अंगों की समता नहीं मिलती। हृदय में कितनी ही आशायें रखे हुए मैं भी तो अकेला इन वियोग की घड़ियों को किसी तरह काट ही

रहा हूँ; अतः ओ सजनि, तुम निराश न होना। भला सोचो तो सही कि निरन्तर सुख ही सुख या दुःख ही दुःख कभी किसी को मिला भी है? भाग्य का चक्र कभी तो ऊपर चला जाता है और कभी नीचे आ जाता है। अब मेरे शाप के समाप्त होने के लिये केवल चार ही महीने शेष हैं; इन्हें आँख मीचकर सह लो और फिर हम दोनों शरद् की चाँदनी रातों में वियोग के कारण कितना ही गुणा बढ़ी हुई उन-उन इच्छाओं को अच्छी तरह पूरी करलेंगे"।

यों सन्देश देकर अन्त में यक्ष मेघ को बोला—"भैया, यह मेरा कार्य—चाहे मित्रता के नाते बोलो, चाहे मुझ दुःखी के प्रति दया के नाते बोलो—करके जहाँ तुम्हारी इच्छा हो चले जाना। तुम्हारा मेरी तरह बिजली से कभी वियोग न हो—यही मेरी कामना है।

मेघदूत का उद्गम–कुमार० और रघु० की तरह मेघदूत किसी पौराणिक अथवा ऐतिहासिक आधार पर टिका हुआ नहीं है। यह तो निरा कल्पना-प्रसूत ही है। मेघ को दूत बनाकर यक्ष का अपनी पत्नी को सन्देश भेजने की बात संस्कृत-साहित्य में बिलकुल नयी है। कुछ आलोचकों का विचार है कि यह ग्रन्थ कालिदास के व्यक्तिगत जीवन में घटी हुई किसी वियोग-घटना पर आधारित है। संभवतः किसी कारण–वश कवि को अपनी प्रिया से बिछुड़ कर जाना पड़ा हो और वियोग की वह आप–बीती वेदना ही मेघदूत के रूप में अभिव्यक्त हुई हो। श्रीहरिनाथ महोदय का कहना है कि "कालिदास से पूर्व ही चीन के एक कवि ह्यू-कान् (Hsiu Kan) (२०० ई०) ने मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना कर ली थी", किन्तु कालिदास के जन्मकाल सम्बन्धी पाँचवीं शताब्दीवाले वाद के खण्डन हो जाने से यह बात भी स्वयं खण्डित हो जाती है। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ मेघदूत की टीका में—"सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघदूत-सन्देशं कविः कृतवानित्याहुः" कहकर वाल्मीकि रामायण में आई हुई राम का हनुमान् द्वारा सीता

को सन्देश पहुंचानेवाली घटना को मेघदूत का बीज बतलाते हैं और 'आहुः' कहकर यह भी द्योतित करते हैं कि उनके समय में मेघदूत-विषयक यह धारणा सर्व-साधारण थी। इसमें सन्देह नहीं कि मेघदूत में 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' 'रामगिर्याश्रमेषु' 'रघुपतिपदैरङ्कितम्' 'दशमुखोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः' 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा' इत्यादि पंक्तियों पर राम के कथानक की छाप अवश्य पड़ी हुई है; साथ ही मेघदूत तथा रामायण का वर्षाऋतु-वर्णन और कतिपय अन्यान्य बातें भी बहुत कुछ समान ही मिलती हैं, अतः संभव है कि कालिदास को वाल्मीकि से थोड़ी-बहुत भाव-प्रेरणा मिली हो जैसे कि रघुवंशादि में भी मिली है, किन्तु निर्माण की दृष्टि से मेघदूत की सारी वस्तुयें कालिदास की अपनी ही हैं, जिससे इस ग्रन्थ की मौलिकता पर कोई आपत्ति नहीं की जानी चाहिये। निस्सन्देह दूतकाव्यों की परम्परा चलाने का आदि-श्रेय कालिदास को ही है।

मेघदूत की विशेषता—यह हम पीछे कह आये हैं कि कालिदास का मेघदूत गीति-काव्यों का चूड़ामणि है। साहित्यिक जगत् में जो ख्याति कवि को रघुवंश और शाकुन्तल ने प्रदान की है, मेघदूत ने भी उससे किसी तरह भी कम ख्याति नहीं प्रदान की। विद्वानों की तो यहां तक सम्मति है कि यदि कालिदास रघुवंश शाकुन्तल-आदियों को न लिखकर केवल मेघदूत को ही लिखते, तो भी संसार इन्हें प्रकाण्ड महाकवियों में ही गिनता। कल्पना का विविध विलास, भावों की कोमल व्यञ्जना तथा माधुर्य का सतत प्रवाह जो हमें इस रचना में मिलता है, वह अन्यत्र कहां। यक्ष तो केवल निमित्त-मात्र है। वास्तव में विरह-पीडित मानव का समूचा अन्तर्जगत्—क्या तो आशाएँ, क्या निराशाएँ, क्या हर्ष और क्या विषाद—हमारे आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। मेघदूत के प्रति श्लोक के शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षर में विरह-व्यथित हृदय की गहरी आह और सूक्ष्म धड़कन सुनाई देती है। यहाँ तक कि पर्वत, नदियाँ नगरियां, ग्राम एवं ग्राम-भूमियाँ आदि सारी बाह्य प्रकृति भी सहानुभूति-

पूर्ण होकर अन्तर्जगत् के साथ अपनी एकता स्थापित करती हुई स्वयं भी विरह की आग उगल रही है। पूर्वमेघ तो प्रायः प्रकृति के ही चित्रों का एक विशाल ऐल्बम (Album) है। सर्वप्रथम प्रकृति का एक महत्त्व-पूर्ण अंश मेघ ही कभी तो 'चिर-विरह के कारण गर्म-गर्म आँसू गिराते हुए अपने प्रिय-सखा शैल को गले लगाता हुआ,' कभी 'किनारे के वृक्षों से गिरे हुए पुराने पत्तों के रूप में विरह से पीली पड़ी निर्वि-न्ध्या की कृशता को दूर करता हुआ' और कभी 'मछली की किलोल के रूप में गम्भीरा के चञ्चल चितवन को विफल न जाने देता हुआ' चित्रित हुआ है। कहीं प्रिय-समागम के सुख-लोभ से बगुलियाँ पंक्ति—बाँध कर आकाश में उड़ रही हैं, कहीं 'शिलीन्ध्रों' से रोमाञ्चित पृथिवी जुती जाती हुई प्रथम वृष्टि के कारण महक छोड़ रही है, कहीं चौकड़ी भरती हुई मृगियाँ मेघ का मार्ग बना रही हैं, कहीं गर्जन-पूर्वक तीर से जल-ग्रहण के रूप में मेघ के अधरपान करने पर वेत्रवती चञ्चल तरङ्गों के रूप में भ्रूकुटि ताने हुए है, कहीं 'प्रतनु सलिल' की एक वेणी बाँधे हुए कृश—गात सिन्धु अपनी विरहा-वस्था को व्यक्त कर रही है, कहीं सूर्य प्रवास से आकर अपने करों से विरह पीड़ित नलिनी के 'कमल—वदन' पर गिरे हुए ओस के आँसू पोंछ रहा है। और कहीं 'अपने फेन' से गौरी के भ्रूभंग का उपहास करती हुई 'जह्नु-कन्या' वियोग के भयसे लहर-करों द्वारा शिवजी के केशों को पकड़े हुए है।' प्रकृति की समवेदना से विरही यक्ष के संतप्त हृदय को बड़ी शान्ति मिली। इस तरह विरह—भावना से प्रतिबिम्बित बहिर्जगत् को पृष्ठ-भूमि बनाकर कलाकार उत्तर मेघ में अन्तर्जगत् का चित्रण करता है, जिसमें भी हमें उसी तूलिका—कौशल का दर्शन होता है जैसा कि बाह्य-प्रकृति के चित्रण में। बेचारी विरह—पीड़ित यक्ष—पत्नी पाले से मुरझाई हुई कमलिनी की तरह क्या थी और क्या हो गई; न तो बहुत बोलती है और न ही संसार के पदार्थों में रुचि रखती है; आभू-

षण-रहित हो एक मैली सी साड़ी पहने 'सहचर से वियुक्त चक्रवाकी की तरह' अकेली एक मूर्तिमती हूक-सी बनी बैठी है। वह कभी गोद में वीणा लेकर प्रिय का गीत छेड़ना चाहती ही थी कि सहसा हृदय में स्मृति की विषम वेदना आँसू बनकर बह जाती है और तत्क्षण ही कण्ठ भी मूक और वीणा भी मूक। रातें आखों में ही बीतती हैं और बेचारी पति-समागम के सुख-स्वप्नों से भी वञ्चित ही रहती है। उसका कोमल हृदय कभी का टूट गया होता यदि अवधि के समाप्ति होने पर पति से पुनर्मिलन की आशा उसे थामे न होती। वास्तव में मेघदूत की नायिका यक्ष-पत्नी भारत की एक आदर्श नारी है और सर्वथा उसी पंक्ति में बैठने का अधिकार रखती है, जिस पंक्ति में कालिदास की अन्य नायिकायें-पार्वती, इन्दुमती, सीता और शकुन्तला-बैठी हैं। अब दूसरा यक्ष का भी चित्र देखिये; बेचारा प्रकृति के सौन्दर्य में अपने हृदय का आभास प्राप्त कर आश्वसित हो प्रियतमा से पुनर्मिलन की आशा में किसी तरह जीवित ही है; कभी किसी शिला फलक पर गेरू से अपनी प्रणय-कुपित प्रेयसी का चित्र बनाकर उसे मनाने के लिए ज्यों ही चरणों पर गिरना चाहता है कि क्रूर भाग्य आँखों को आसुओं से भर उसे देखने ही नहीं देता; कभी दक्षिण की ओर से बहनेवाली देवदारु-द्रुमों की सुगन्धित पवन का इस विचार से आलिङ्गन करता है कि वह अवश्य उसकी प्रेयसी के अङ्गों का स्पर्श करके आई होगी; कभी चकित हुई मृगियों की दृष्टि में अपनी प्रियतमा की चितवनों की, चाँद में उसके मुख-सौन्दर्य की और नदी-तरङ्गों में उसके भ्रूविलासों की कल्पना किया करता है; कभी स्वप्न में प्रिया-समागम होने पर उसे आलिंगन करने के लिये आकाश में भुजाओं को उठाता है जिसे देखकर वन-देवियाँ भी दो-दो आँसू गिरा देती हैं। यह सब विरह व्यथित हृदय की ऐसी कठोर वेदना है कि सहृदय पाठकों को शृङ्गार अपना क्षेत्र छोड़कर करुण-रस की सीमा के आसपास गया हुआ दिखाई देता है।

यक्ष का प्रेम वियोग के अग्नि–कुण्ड में पड़ कर वासनात्मक मल को भस्म करके अपनी सीमित परिधिसे निकला हुआ असीम–रूपमें अभिव्यक्त होने लगा; अब उसे क्या महल, क्या मार्ग, क्या आगे और क्या पीछे–सभी जगह प्रियतमा ही प्रियतमा दृष्टिगत होने लगी–यहाँ तक कि अन्ततोगत्वा सारा ही विश्व उसे प्रियतमात्मकता के एकत्व-वाद में परिसमाप्त हुआ अनुभूत होने लगा—

"प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा।
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥"

यह है भारत का आदर्श प्रेम जो, साधना द्वारा पूत होकर विश्वप्रेम में परिणत हुआ यक्ष को वृक्ष, पर्वत, नदी, नद–अर्थात् सभी जड़–चेतनों के प्रति ममत्व की दिव्य अनुभूति प्रदान करता है और इस तरह उसे सान्त से अनन्त की ओर ले जाता है, 'मर्त्य' से 'अमर' बना देता है।

मेघदूत में अलंकारों का भी स्थान-स्थान में बड़ा अच्छा और स्वाभाविक प्रयोग हुआ है जिससे रचना को बहुत सौन्दर्य मिला। कवि की कला-सहजा उपमा का विलास तो देखते ही बनता है। कहीं तो नदी का चञ्चल तरंगोंवाला जल पिया जाता हुआ नायिका का भ्रूकुटि-ताने अधर-सा है (२५) कहीं हिमालय के तुषार-गौर शृङ्ग से लगा हुआ मेघ शिवजी के वृषभ द्वारा उखाड़कर अपने ऊपर फेंका हुआ पंक-सा है (५५) कहीं वर्षाकाल में जल-बिन्दुओं की झड़ी लगानेवाला मेघ किसी कामिनी का मोतियों से सुशोभित केशपाश-सा है (६५) और कहीं विरह-शय्या पर एक ही पार्श्व में लेटी हुई चिन्ता-कृश यक्षपत्नी पूर्वदिशा में कलामात्र-शेष चन्द्रमा-सी है (२९ उ० में)। उत्प्रेक्षा भी यथास्थान अच्छी ही प्रयुक्त हुई मिलती है—कहीं दूर से छोटी-सी दिखाई देनेवाली नदी की धवल धार—जब मे उसका जल ग्रहण करने के लिए एक तरफ झुकता है—ऐसी प्रतीत होती है मानो कि पृथिवी की मध्य में मोटे-से नीलम को रखे हुए मोतियों की लड़ी हो; (४९) कहीं पके

हुए जंगली आम्रों से घिरे पर्वत की चोटी से सटा हुआ मेघ ऐसा लगता है मानो मध्य में काला और शेष भाग में पीला-सा पृथिबी-नायिका का स्तन हो (१८), और कहीं गंगा के धवल जल को ग्रहण करने के लिए झुका हुआ काला मेघ ऐसा लग रहा है, मानो प्रयाग से अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान में गंगा-यमुना का संगम हो गया हो (५४) अर्थान्तरन्यास भी ऐसे अच्छे और सार्वभौम तथ्य पर आश्रित हैं कि उनमें से बहुत से तो संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध आभाणक ही बन गये हैं--जैसे 'कामार्त्ता हि प्रकृति-कृपणाश्चेतनाचेतनेषु', 'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा', 'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं' दुःखमेकान्ततो वा, नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

मेघदूत की लोकप्रियता---अपने गुणों के कारण मेघदूत बहुत ही अधिक लोक-प्रिय बना। इससे परवर्ती अनेक कवियों ने भाव-प्रेरणा ली और इसी के अनुकरण पर कितने ही दूत-काव्यों की रचना हुई। आठवीं शताब्दी (ई०) में प्रसिद्ध जैन कवि जिनसेन ने मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक पाद को समस्या-पूर्ति के रूप में लेकर जैन महात्मा पार्श्वनाथ का पार्श्वाभ्युदय--नामक जीवन-चरित्र लिखा। निदर्शन के रूप में प्रथम श्लोक की प्रथम-पाद की समस्या--पूर्ती इस तरह है:--

श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या,
योगैकाग्रचस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन् बद्धवैरेण दग्धः,
कश्चित् कान्ता-विरह-गुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः ॥

बारहवीं शताब्दी में धोयी कवि ने 'पवनदूत' रचा; तत्पश्चात् नेमिदूत, कोकिलदूत, हंसदूत, शलिदूत, उद्धवदूत--आदि दूत-काव्यों की प्रथा-सी चल पड़ी। हिन्दी में भी व्रजभाषा और खड़ी बोली को मिलाकर छः पद्यानुवाद बन चुके हैं और एक तो उनमें सचित्र भी है । भारत के बाहरी देशों

पर भी मेघदूत का बड़ा प्रभाव पड़ा। जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने अपने 'मेरियो स्टुअर्ट' नाटक में कालिदास के अनुसार ही मेघ-द्वारा सन्देश भेजने की कल्पना की है। जर्मन विद्वान् श्वेट्ज़ (Schutez) ने मेघदूत का जर्मन गद्य में और प्रो० मैक्समूलर (Maxmuller) ने जर्मन-पद्य में अनुवाद किया। अमेरिका के प्रसिद्ध संस्कृत-अनुवादक आर्थर राइडर (Arthur Ryder) ने मेघदूत का अंग्रेजी में बड़ा अच्छा पद्यानुवाद किया है। डा० बेक्ख (Beckh) ने इसको तिब्बती भाषा में अनूदित किया। इससे यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है कि प्राचीन विद्वानों ने मेघदूत को जो गौरव प्रदान किया था उसे सभी आधुनिक विद्वान्—क्या घर के और क्या—बाहर के भली भाँति निभा रहे हैं।

टीकायें—मेघदूत पर कुल मिलाकर इस समय ४० से अधिक टीकायें मिलती हैं। टीकाकारों में प्रसिद्ध ये हैं—१ वल्लभ २ मल्लिनाथ ३ सारोद्धारिणी ४ सरस्वती तीर्थ, ५ सुमतिविजय और महिमसिंहानी। कालक्रमानुसार सर्वप्रथम टीकाकार वल्लभ (७वीं शताब्दी) ही हैं और तदनन्तर मल्लिनाथ हैं, जो सर्वप्रसिद्ध ही हैं। शेष टीकायें उनके बाद की हैं। मेघदूत के मूल-श्लोकों के पाठ, संख्या तथा क्रम के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद पाया जाता है। जिनसेन के पाठ में १२० श्लोक हैं, वल्लभ के पाठ में १११ और मल्लिनाथ के पाठ में १२१ (उन पांच श्लोकों को मिलाकर, जिन्हें इन्होंने प्रक्षिप्त बताया है)। प्रो० मैकडानल ११५ और विल्सन महोदय ११६ श्लोकों को ही मौलिक बतलाते हैं। वास्तव में पाठ-भेद होने पर भी उसका इस काव्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता; हां अन्त के उपसंहारात्मक प्रक्षिप्त श्लोक कला की दृष्टि से अवश्य अनुपादेय हैं और उन्हें हटा ही देना चाहिए।

———————

॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीकालिदासप्रणीतं

मेघदूतम्

पूर्वमेघः

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्योदक्षिणदृक्पातसंकुचद्वामदृष्टये ॥
अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तन्नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥
शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब कृतार्थसार्थवाहम् ॥
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

"आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्" (काव्यादर्श. १।१४) इति शास्त्रात्काव्यादौ वस्तुनिर्देशात्कथां प्रस्तौति—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः[१]
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

अन्वयः—स्वाधिकारात् प्रमत्तः कान्ताविरहगुरुणा वर्षभोग्येण भर्तुः शापेन अस्तङ्गमितमहिमा कश्चित् यक्षः जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु रामगिर्याश्रमेषु वसतिं चक्रे ॥ १ ॥

१—स्वाधिकारप्रमत्तः सु. वि., वल्ल० म. सि., विल्स० ।

संजीविनी—कश्चिदिति। स्वाधिकारात् स्वनियोगात् प्रमत्तोऽनवहितः। "प्रमादोऽनवधानता" इत्यमरः। "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" (वा० १०७९) इत्यपादानत्वम्। तस्मात् पञ्चमी। अत एवापराधाद्धेतोः। कान्ताविरहेण गुरुणा दुर्भरेण दुस्तरेणेत्यर्थः। "गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे" इति शब्दार्णवे। वर्षभोग्येण संवत्सरभोग्येण। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (२।३।५) इति द्वितीया। "अत्यन्तसंयोगे च" (२।१।२९) इति समासः। "कुमति च" (८।४।१३) इति णत्वम्। भर्तुः स्वामिनः शापेन। अस्तङ्गमितो महिमा सामर्थ्यं यस्य सोऽस्तंगमितमहिमा। अस्तमिति मकारान्तमव्ययम्। तस्य "द्वितीया–" (२।१।२४) इति योगविभागात् समासः। कश्चिदनिर्दिष्टनामा यक्षो देवयोनिविशेषः। "विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिंनराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः" इत्यमरः। जनकतनयायाः सीतायाः स्नानैरवगाहनैः पुण्यानि पवित्राण्युदकानि येषु तेषु। पावनेष्वित्यर्थः। छायाप्रधानास्तरवश्छायातरवः। शाकपार्थिवादित्वात्समासः। स्निग्धाः सान्द्राश्छायातरवो नमेरुवृक्षा येषु तेषु। वसतियोग्येष्वित्यर्थः। "स्निग्धं तु मसृणे सान्द्रे" इति, "छायावृक्षो नमेरुः स्यात्" इति च शब्दार्णवे। रामगिरेश्चित्रकूटस्याश्रमेषु वसतिम्। "वहिवस्यर्तिभ्यश्चित्" (उ. सू. ५००) इत्यौणादिकोऽतिप्रत्ययः। चक्रे कृतवान्। अत्र रसो विप्रलम्भाख्यः शृङ्गारः। तत्राप्युन्मादावस्था। अत एवैकत्राऽनवस्थानं सूचितमाश्रमेष्विति बहुवचनेन। सीतां प्रति रामस्य हनूमत्संदेशं मनसि निधाय मेघसंदेशं कविः कृतवानित्याहुः। अत्र काव्ये सर्वत्र मन्दाक्रान्तावृत्तम्। तदुक्तम्–"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्" इति ॥ १ ॥

पदार्थः—स्वाधिकारात्प्रमत्तः=अपने काम से प्रमाद करनेवाला, असावधान। कान्ताविरहगुरुणा=प्रिया के वियोग से दुःसह। वर्षभोग्येण=साल तक भोगे जानेवाले। भर्तुः=स्वामी के। शापेन=शाप से। अस्तंगमितमहिमा=जिसकी महिमा (सामर्थ्य) का विनाश कर दिया गया था, अर्थात

महिमा से वञ्चित किया गया हुआ। यक्षः=योनिविशेषः, 'विद्याधराप्सरोयक्ष-रक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरः। जनकतनया०=जनक की पुत्री (सीता) के स्नानों से पुण्य जलोंवाले। स्निग्ध-च्छाया०=घने छायादार वृक्षों से युक्त। रामगिर्याश्रमेषु=रामगिरि के आश्रमों में। वसतिम्=निवासस्थान, डेरा। चक्रे=बनाया ॥ १ ॥

भाषानुवादः—अपने कार्य से प्रमाद (असावधानी) करनेवाले (अत एव) प्रिया के वियोग से दुःसह एवं वर्ष तक भोगने योग्य स्वामी के शाप द्वारा (अपनी) महिमा से वञ्चित किए गये किसी यक्षने जनक-पुत्री (सीता) के स्नानों से पवित्र हुए जलोंवाले तथा घने छायादार वृक्षों से युक्त रामगिरि के आश्रमों में डेरा लगाया ॥ १ ॥

व्याकरणम्—स्वाधिकारात्प्रमत्तः=अधिक्रियते अस्मिन् इति अधि+√कृ, त० उभ०+घञ्, अधिकरणे—अधिकार, स्वस्य अथवा स्वः अधिकारः ष० तत्पु० अथवा कर्मधा० तस्मात्—यहां 'प्रमाद' अर्थ में "जुगुप्साविराम-प्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" से पञ्चमी का प्रयोग हुआ। प्रमत्त—प्र+√मद्, दि० प०+त (क्त) कान्ताविरहगुरुणा=कान्तायाः (षष्ठीत०) विरहेण (तृती० त०) गुरुणा। वर्षभोग्येण=वर्षं भोग्येन; यहां "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" से द्वितीया, "अत्यन्तसंयोगे च" से समास तथा 'कुमति च' से न को णत्व हुआ है। शापेन=√शप्, भ्वा० उभ०+अ (घञ्) भावे—शापः तेन हेतौ तृतीया। जनकतनयास्नान०=जनकतनयायाः स्नानैः पुण्यानि उदकानि येषु (बहुव्रीहि)। अस्तंगमितमहिमा अस्तं (अव्यय) गमितो महिमा यस्य (बहुव्रीहि)। गमित=√गम्, भ्वा० प०=(णिच्)+त। स्निग्धच्छाया०=छाया प्रधानाः तरवः छायातरवः, मध्यमपदलोपी समास। स्निग्धाः छायातरवः येषु तेषु बहुव्रीहिः। दक्षिणा० छायातरु का विग्रह 'छायाप्रचुरास्तरवः' करता है। राम-गिर्याश्रमेषु=रामगिरेराश्रमेषु (षष्ठी तत्पु०)। चक्रे=√कृ तना० उभय,

लिट् लकार, प्रथमपुरुष एक० । 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यात्मनेपदम् ॥१॥

विशेषः—मेघदूतः=मेघ एव दूतः मेघदूतः स एव अभेदोपचारात्तत्संज्ञं काव्यम् । यहां 'अभेदोपचारात्' का अर्थ आरोप (Superimposition) है, अर्थात् पहले तो मेघ में ही दूतत्व का आरोप है, और फिर मेघदूत में भी काव्यत्व का आरोप है । अथवा मेघ एव दूतः यस्मिन् काव्ये तत् (बहुव्रीहि) मेघदूतम्—दूत=√दु, गतौ+त (क्त) .इसमें 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' इस उणादिसूत्र से 'उ' को दीर्घ हुआ । अथवा √दु उपतापे+क्त, कर्त्तरि इससे दुत (दुःखित) बना, परन्तु यह अर्थ यहां उचित नहीं । मेघदूत एक 'खण्डकाव्य' है, (जिसके विशद वर्णन के लिए ग्रन्थ का प्रारम्भिक वक्तव्य देखिए) ।

क्योंकि इसमें महाकाव्य के सब लक्षण पूरे नहीं घटते । 'खण्डकाव्यं महाकाव्यस्यैकदेशानुसारि यत्' । महाकाव्य का लक्षण दण्डी के काव्यादर्श और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में देखिए ।

इस खण्डकाव्य में शृंगाररस प्रधान है । यहां विप्रलम्भशृंगार (Love Sentiment in Separation) है ।

संस्कृत में ग्रन्थ प्रारम्भ करने के लिये तीन प्रकार के मङ्गल होते हैं—1. आशीः (Benediction); 2. नमस्क्रिया (Salutation); 3. वस्तुनिर्देशः (Introduction of subject matter) । इस काव्य का प्रारम्भ कालिदास ने तीसरे प्रकार से किया है ।

कान्ताविरह०—यहाँ 'भार्या' शब्द का प्रयोग न कर कवि ने जान-बूझकर 'कान्ता' (प्रेयसी) का प्रयोग किया है । इसलिये परिकराङ्कुर अलंकार है । जहां विशेष्य साभिप्राय (Significant) हो, वहाँ परिकराङ्कुर अलंकार कहते हैं । गुरु=भारी, दुःसह, सहन करने में कठिन ।

महिमा—महिमन् (पु०) प्रथमा एक० । इसका अर्थ—बड़ाई, दैवी शक्ति; जैसे-अन्तरिक्ष में उड़ना, अदृश्य होना आदि । शाप में दैवी शक्ति

को नाश करने का सामर्थ्य है। देखिये—विक्रमोर्वशी IV 'गुरुशापसंमूढ-हृदया'। और देखिए दशकुमार० V 'तया गिरिदुहित्रा......गतस्ते शाप इत्यनुगृहीता (अहं) सद्य एव प्रत्यापन्नमहिमात्वां यथावदभ्यजानाम्। 'अस्तंगमितमहिमा' साभिप्राय विशेषण है क्योंकि यदि कुबेर के शाप के कारण यक्ष की महिमा लुप्त न हुई होती, तो वह अदृश्यरूप हो अपनी कान्ता से मिलकर और उसका कुशल-क्षेम पूछ कर वापिस आ सकता था। इस अवस्था में मेघ के द्वारा सन्देश भेजने का अवसर ही न आता और न कवि को काव्य की पृष्ठ-भूमि मिलती। विशेषण यदि साभिप्राय हो तो परिकर अलंकार बनता है।

स्वाधिकारात्प्रमत्तः—कुछ एक टीकाकारों के अनुसार यक्ष का यह काम था कि वह प्रतिदिन प्रातः कुबेर के लिए अभिनव पुष्पों को शिव जी की पूजा के निमित्त लाया करे। एक दिन आनेवाले प्रातःकाल अपनी कान्ता का संग छोड़ने की अनिच्छा से वह रात के समय में ही कमल की कलियों को ले आया। अगले दिन प्रातः जब कुबेर इन्हें शिव जी पर चढ़ा रहा था, तो एक भ्रमर ने, जो कि किसी कली में छिपा हुआ था, उसकी अंगुलियों में डंक मारा। इससे क्रुद्ध होकर उसने यक्ष को शाप दियाः—"तू अपनी कान्ता से—जिसके कारण तूने अपने कर्तव्य से प्रमाद किया है—एक साल-भर पृथक् रहेगा"। कुछ टीकाकार कहते हैं कि 'यह यक्ष कुबेर के उद्यान का रक्षक था। एक दिन वह अपना स्थान छोड़कर कहीं चला गया। इतने में इन्द्र के हाथी ने उद्यान में घुस कर वहां की फूलों की क्यारियों को रौंद डाला' (विल्सन)।

यक्ष—ये नरदेव अथवा गन्धर्व श्रेणी से सम्बन्ध रखते हैं। ये धन के देवता कुबेर के सेवक कहे गये हैं, इस कारण कुबेर को 'यक्षेश्वर, भी कहा जाता है; देखिए श्लोक 7 'गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वरा-

णाम्'। यक्षों का काम कुबेर के उद्यानों और कोश की रक्षा करना है। यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'यक्ष्यते पूज्यते इति यक्षः' अथवा 'इः कामः तस्य इव अक्षिणी यस्य' अथवा 'इः अक्ष्णोः यस्य' इति।

स्निग्धच्छाया०—मल्लि० ने० 'स्निग्ध' का अर्थ सान्द्र (घना) लिया है। छायाप्रधानास्तरवश्छाया तरवः शाकपार्थिवादिवत्, मध्यमपदलोपी समास है। इस प्रकार 'छाया तरवः' से नमेरु वृक्षों का अर्थ लिया है। इसका 'घने छाया देने वाले वृक्ष' यह अर्थ करना अच्छा है। 'स्निग्ध' का अर्थ रम्य, सुन्दर भी लिया जा सकता है; इस प्रकार यह छाया का विशेषण है। एक टीकाकार 'छाया तरवः' की इस प्रकार व्याख्या करता है—'पूर्वापरदिग्भागेऽपि सवितरि येषां छाया न परिवर्त्तते ते छाया-तरव उच्यन्ते'।

आश्रमेषु—इससे यह प्रकट होता है कि अपनी कान्ता से वियुक्त यक्ष एक स्थान पर न ठहरकर कई आश्रमों में रहता रहा। जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु—सीता जन्म से पवित्रता की मूर्ति मानी जाती है, अतः उसके स्नान से रामगिरि के आश्रम भी पवित्र हो गये। देखिए—उत्तर० 'उत्पत्तिपरिपूतायाः किमन्यैः पावनान्तरैः'।

रामगिरि—मल्लिनाथ और वल्लभ 'रामगिरि' से चित्रकूट पर्वत लेते हैं। विल्सन महोदय के विचार में यह पर्वत 'रामटेक' (Hill of Rama) ही है, जो नागपुर के पास उत्तर की ओर है। आधुनिक पुरातत्त्व अनुसन्धान के अनुसार 'रामगिरि' का मध्यप्रान्त में स्थित रामगढ़ से अभिप्राय है, क्योंकि यह आम्रकूट या अमरकण्टक के बिलकुल समीप है—जिससे नर्मदा नदी निकलती है। कवि ने आम्रकूट और नर्मदा इन दोनों का आगे उल्लेख किया है।

इस सारे काव्य में 'मन्दाक्रान्ता' छन्द है, जिसका लक्षण इस प्रकार है:—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्'। इस छन्द में प्रत्येक पाद में

SSS SII III SSI SS।

१७ अक्षर होते हैं और वे मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु होते

S S S S I I I I I S S I S S I S S
हैं—जैसे:—कश्चित्का—न्ताविर—ह गुरु—णास्वाधि—कारात्प्र—मत्तः ॥१॥

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य [1]प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

अन्वय:——अबलाविप्रयुक्तः कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः स कामी तस्मिन् अद्रौ कतिचित् मासान् नीत्वा आषाढस्य प्रथमदिवसे आश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडा-परिणतगजप्रेक्षणीयं मेघं ददर्श ॥ २ ॥

(सं०) तस्मिन्निति । तस्मिन्नद्रौ चित्रकूटाद्रौ । अबलाविप्रयुक्तः कान्ताविरही । कनकस्य वलयः कटकम् । "कटकं वलयोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । तस्य भ्रंशेन पातेन रिक्तः शून्यः प्रकोष्ठः कूर्पराधः प्रदेशो यस्य स तथोक्तः । "कक्षान्तरे प्रकोष्ठः स्यात्प्रकोष्ठः कूर्परादधः" इति शाश्वतः । विरहदुःखात्कृश इत्यर्थः । कामी कामुकः स यक्षः । कतिचिन्मासान् । अष्टौ मासानित्यर्थः । "शेषा-न्मासान्गमय चतुरः" (उ. मे. ४७) इति वक्ष्यमाणत्वात् । नीत्वा यापयित्वा । आषाढानक्षत्रेण युक्ता पौर्णमास्याषाढी । "नक्षत्रेण युक्तः कालः" (४।२।३) इत्यण् । "टिड्ढाणञ्" (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । साऽऽषाढ्यस्मिन्पौर्णमासीत्या-षाढो मासः । "सास्मिन्पौर्णमासीति संज्ञायाम्" (४।२।२१) इत्यण् । तस्य प्रथमदि-वसे आश्लिष्टसानुमाक्रान्तकूटम् । वप्रक्रीडा उत्खातकेलयः । "उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते" इति शब्दार्णवे । तासु परिणतस्तिर्यग्दन्तप्रहारः । "तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः" इति हलायुधः । स चासौ गजश्च तमिव प्रेक्षणीयं दर्शनीयं मेघं ददर्श । गजप्रेक्षणीयमित्यत्रेवलोपाल्लुप्तोपमा ।

---

१ प्रशमदिवसे वल्ल०

केचित् "आषाढस्य प्रथमदिवसे" इत्यत्र "प्रत्यासन्ने नभसि" (पू- मे. ४) इति वक्ष्यमाणनभोमासप्रत्यासत्त्यर्थं "प्रशमदिवसे" इति पाठं कल्पयन्ति; तदसंगतम्। प्रथमातिरेके कारणाभावात्। नभो मासस्य प्रत्यासत्त्यर्थमित्युक्तमिति चेन्न। प्रत्यासत्तिमात्रस्य मासप्रत्यासत्त्यैव प्रथमदिवसस्याप्युपपत्तेः। अत्यन्तप्रत्यासत्तेरुपयोगाभावेनाविवक्षितत्वात्। विवक्षितत्वे वा स्वपक्षेऽपि प्रथमदिवसातिक्रमेण मेघदर्शनकल्पनायां प्रमाणाभावेन तदसंभवात्। प्रत्युतास्मत्पक्ष एव कुशलसंदेशस्य भाव्यनर्थप्रतीकारार्थस्य पुरत एवानुमानमुक्तं भवतीत्युपयोगसिद्धिः। ननून्मत्तस्य नायं विवेक इति चेन्न। उन्मत्तस्य नानर्थस्य प्रतीकारार्थं प्रवृत्तिरपीति संदेश एव मा भूत्। तथा च काव्यारम्भ एवाप्रसिद्धः स्यादित्यहो मूलच्छेदी पाण्डित्यप्रकर्षः। कथं तर्हि "शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ" (उ. मे. ४७) इत्यादिना भगवत्प्रबोधावधिकस्य शापस्य मासचतुष्टयावसिष्टस्योक्तिः? दशदिवसाधिक्यादिति चेत्—स्वपक्षेऽपि कथं सा? विंशतिदिवसैर्न्यूनत्वादिति संतोष्टव्यम्। तस्मादीषद्वैषम्यमविवक्षितमिति सुष्ठूक्तं "प्रथमदिवसे" इति॥ २॥

पदार्थः—अबलाविप्रयुक्तः=प्रिया से बिछुड़ा हुआ। कनकवलय०=सोने के कड़े के गिर पडने से शून्य कलाईवाला। कामी=भोग विलासी। अद्रौ=पहाड़ पर। कतिचित् मासान्=कुछ महीनों को। नीत्वा=बिताकर। आश्लिष्टसानुम्=पहाड़ की चोटी से सटे हुए। वप्रक्रीडापरिणत०=टीले से मिट्टी उखाड़ कर खेल में तिरछे दाँतों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दीखनेवाले। मेघम्=बादल को। ददर्श=देखा॥२॥

भाषानुवादः—प्रिया से बिछुड़े हुए (दुर्बलता के कारण) सोने के कड़े के गिर जाने से शून्य कलाईवाले, उस कामी ने कुछ महीने उस पहाड़ पर बिता कर, आषाढ़ के पहले दिन पहाड़ की चोटी से सटे हुए, बादल को देखा, जो कि टीले से मिट्टी उखाड़ने के खेल में तिरछे दाँतों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दिखाई दे रहा था॥२॥

व्याकरणम्--अबलाविप्रयुक्त:=अबलया विप्रयुक्तः (तृ० तत्पु०)। कामी=√कम्+इन् (णिनि) कर्तरि अथवा √कम्+घञ् भावे कामः स अस्ति अस्य इति काम+इनि (मत्वर्थ) कतिचित्=कति+चित्; इसमें 'कति' 'मासान्' का विशेषण है। 'कति' सर्वनाम के रूप बहु० में ही होते हैं। इसके रूप प्र० द्वि० में कति तथा अन्य विभक्तियों में 'हरि' के समान होते हैं। प्रथमदिवसे प्रथमः दिवसः (कर्मधा०) तस्मिन्, अधिकरणे सप्त०। आश्लिष्ट०=आ+√श्लिष्, दि० प० (चिमटना)+क्त। आश्लिष्टः सानु येन बहु-व्री.तम्। कनकवलय०=कनकस्य वलयः कनकवलयः (ष० तत्पु०) तस्य भ्रंशेन रिक्तः प्रकोष्ठः यस्य सः (ब० व्री०)। वप्रक्रीडापरिणत०=वप्रक्रीडासु परिणतः स चासौ गजः (कर्मधा०) स इव प्रेक्षणीयः उपमान-कर्मधा०। 'उपमानानि सामान्यवचनैः' से समास हुआ। तं मेघम्। प्रेक्षणीयम् प्र+√ईक्ष (भ्वा. आ.)+अनीय (कृत्यप्र०)। ददर्श=√दृश्, भ्वा० प० (देखना) लिट् प्र० पु० एक० ॥२॥

विशेष:—आषाढ़=इसके विषय में मल्लि० ने टीका में यह लिखा है—आषाढा नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमास्याषाढी (ङीप्) सा ऽऽषाढी अस्मिन्पौर्णमासी-स्याषाढो मासः। इसके साथ अण् (अ) प्रत्यय तथा ङीप् (ई) प्रत्यय लगने से क्रमशः 'आषाढ:', 'आषाढी' ये शब्द इस नाम के महीने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। आषाढा नक्षत्र दो प्रकार का होता है-पूर्वा आषाढा तथा उत्तरा आषाढा।

प्रथमदिवसे---इससे यह बात प्रतीत होती है कि सम्भवतः कालिदास के समय में वर्षा आषाढ मास के प्रथम दिन से प्रारम्भ होती थी। ऋतुसंहार में वर्षा प्रारम्भ का यही समय बताया गया है। 'प्रथम दिवसे' इसके स्थान में श्लोक सं० 4 में 'प्रत्यासन्ने नभसि' इस पाठ की उपपत्ति के लिए 'प्रशमदिवसे' (अन्त के दिन) यह पाठान्तर है। किन्तु 'प्रथमदिवसे' पाठ के समर्थन में मल्लि० की इस श्लोक पर टीका देखिए। इसके अनुसार 'प्रथमदिवसे' इस पाठ से सामान्यतः आषाढ और श्रावण दोनों महीनों की समीपता का बोध होता है, न कि इन

महीनों के कुछ दिनों का। इस सम्बन्ध में मेघदूत के श्लोक ११५ में (शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा...) कहे गए 'चतुरः मासान्' इन शब्दों का अक्षरार्थ न लेकर 'प्रायः चार महीने' अर्थ लेना चाहिए।

वप्रक्रीडापरिणत०—टीले से मिट्टी उखाड़ कर खेल में तिरछे दाँतों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दिखाई देनेवाले। इसमें वाचक-धर्म-लुप्ता उपमा है। सम्भवतः यह उपमा इसलिए दी गई है, क्योंकि बादल कई प्रकार की विचित्र आकृतियों को धारण करता है; जैसे—हाथी, भैंसा, सूअर, बैल आदि। देखिए पार्श्वा० 'महिषाश्च वराहाश्च मत्तामातङ्गरूपिणः'। वप्र का अर्थ किले के आस-पास की दीवार या कच्ची दीवार से है; सो 'वप्रक्रीडा' से सींगों या दाँतों द्वारा इस प्रकार की दीवार के साथ टक्कर मारने का अर्थ विवक्षित है। देखिए—रघु० सर्ग V श्लोक ४४—'निःशेषविक्षालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु। नीलोर्ध्व......कुण्ठितेन'॥ शिशु० IV, २९ परिणतदिक्करिकास्तटी बिभर्ति'। परिणत शब्द का 'एक पार्श्व से तिरछे होकर दाँतों द्वारा प्रहार करनेवाला हाथी' अर्थ है। देखिए—तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः। हलायुध II ६५। गज शब्द पृथक् आने से प्रकृत पद्य में 'परिणत' शब्द विशेष्यता को छोड़कर केवल विशेषणता का ही प्रतिपादक है। 'गजप्रेक्षणीयम्' में उपमा वाचक इव शब्द का लोप होने से यह लुप्तोपमा है।

कनकवलयभ्रंश०—इसके लिए देखिए अभि० शाकु० III, १२ 'अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥२॥

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः [1]कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ ३ ॥

१ केतका० सु० वि०, वल्ल० सा०, म० सि०, वि० तथा अन्य।

अन्वयः—राजराजस्य अनुचरः अन्तर्बाष्पः (सन्), कौतुकाधानहेतोः तस्य पुरः कथमपि स्थित्वा चिरं दध्यौ। मेघालोके (सति) सुखिनः अपि चेतः अन्यथावृत्ति भवति कण्ठाऽऽश्लेषप्रणयिनि जने दूरसंस्थे (सति) किं पुनः ॥३॥

(सं०) तस्येति। राजानो यक्षाः। "राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः" इति विश्वः। राज्ञां राजा राजराजः कुबेरः। "राजराजो धनाधिपः" इत्यमरः। "राजाहःसखिभ्यष्टच्" (५।४।९१) इति टच्प्रत्ययः। तस्यानुचरो यक्षः। अन्तर्बाष्पो धीरोदात्तत्वादन्तःस्तम्भिताश्रुः सन्। कौतुकाधानहेतोरभिलाषोत्पादकारणस्य। कौतुकं चाभिलाषे स्यादुत्सवे नर्महर्षयोः" इति विश्वः। तस्य मेघस्य पुरोऽग्रे कथमपि। गरीयसा प्रयत्नेनेत्यर्थः। "ज्ञानहेतुविवक्षायामप्यादि कथमव्ययम्। कथमादि तथाप्यन्तं यत्नगौरववाढयोः" इत्युज्ज्वलः। स्थित्वा चिरं दध्यौ चिन्तयामास। "ध्यै चिन्तायाम्" इति धातोर्लिट्। मनोविकारोपशमनपर्यन्तमिति शेषः। विकारहेतुमाह—मेघालोक इति। मेघालोके मेघदर्शने सति सुखिनोऽपि प्रियादिजनसंगतस्यापि चेतश्चित्तमन्यथाभूता वृत्तिर्व्यापारो यस्य तदन्यथावृत्ति भवति। विकृतिमापद्यत इत्यर्थः। कण्ठाश्लेषप्रणयिनि कण्ठालिङ्गनार्थिनि जने। दूरे संस्था स्थितिर्यस्य तस्मिन्दूरसंस्थे सति किं पुनः? विरहिणः किमुत वक्तव्यमित्यर्थः। विरहिणां मेघसंदर्शनमुद्दीपनं भवतीति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः। तदुक्तं दण्डिना (काव्यादर्श॰ २।१६९)—"ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन। तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः" इति ॥ ३ ॥

पदार्थः—राजराजस्य=कुबेरके। अनुचरः=सेवक ने। अन्तर्बाष्पः=अन्दर ही अन्दर आँसुओं को रोके हुए। कौतुकाधानहेतोः=उत्कण्ठा उत्पादन के कारणीभूत। कथमपि=किसी तरह, बड़े कष्ट से। दध्यौ=सोचा। मेघालोके=बादल के दीखने पर। सुखिनः अपि=सुखी (व्यक्ति) का भी।

चेतः=चित्त । अन्यथावृत्ति=और ही वृत्तिवाला अर्थात् विकृत । भवति=हो जाता है । कण्ठाऽऽश्लेषप्रणयिनि जने=गले लगने के अभिलाषावाले व्यक्ति के । दूरसंस्थे=दूर स्थित होने पर । किं पुनः=तो कहना ही क्या ॥३॥

भाषानुवादः—कुबेर का सेवक (यक्ष) भीतर ही भीतर आँसू रोके हुए, उत्सुकता पैदा कर देनेवाले उस बादल के सामने किसी तरह ठहर कर देर तक सोचता रहा । बादल के दिखाई देने पर सुखी (व्यक्ति) का भी चित्त विकृत (डावांडोल) हो जाता है, फिर गले मिलने की अभिलाषावाले (व्यक्ति) के दूर स्थित होने पर तो कहना ही क्या ॥३॥

व्याकरणम्—राजराजस्य=राज्ञां (यक्षाणां) राजा (ष० तत्पु०) राजराजः; 'राजराजो धनाधिपः' इत्यमरः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इससे 'टच्' (अ) प्रत्यय हुआ । 'राजराज' के रूप राम की तरह चलेंगे । अन्तर्बाष्पः=अन्तः (अव्यय) स्तम्भितं बाष्पं (मध्यमपदलोपी समासः) यस्य सः (बहुव्री०) कौतुका०=कौतुकस्य आधानम् तस्य हेतोः (षष्ठी त०) आधान=आ+√धा, (जु० उभ०)+ल्युट् भावे आधानम् । स्थित्वा=√स्था, (भ्वा० प०)+क्त्वा । चिरम्=अव्यय । दध्यौ=√ध्यै (भ्वा० प०), लिट् प्र० पु० एक० । मेघालोके=मेघस्य आलोकः तस्मिन् सति सप्त० । आलोक=आ+√लोक्+घञ्, भावे । सुखिनः=सुखमस्य विद्यते इति सुखी तस्य, सुखिन् का ष० एक० । अन्यथावृत्ति=अन्यथा वृत्तिः अस्य (बहुव्री०), चेतः (नपुं०) का विशे० । कण्ठाश्लेष०=कण्ठस्य आश्लेषः तस्य प्रणय्+इनि (मत्वर्थे) तस्मिन् । दूरसंस्थे=दूरे संस्था (स्थितिः) अस्य, बहुव्री० । संस्था–सम्+√स्था+अङ् भावे ॥३॥

विशेषः—कौतुकाधानहेतोः=यह पाठ 'केतकाधानहेतोः' इस पाठान्तर से अच्छा है, क्योंकि इससे प्रेमियों के हृदयों में वर्षाकाल के आने से अधिक विकार पैदा होता है और बादल को देखकर एक दूसरे के प्रति उत्कण्ठा का

भाव पैदा होना स्वाभाविक ही है। केतका० से वर्षा में केतकी के पौधे के प्रकट होने से उतनी उत्कण्ठा नहीं होती जितनी बादल को दीखने से। साथ ही इस पाठान्तर से आषाढ़ के प्रथम दिवस से जब कि वर्षा का प्रारम्भ होता है, कोई सम्बन्ध नहीं मिलता। मेघालोके भवति सुखिनोप्यन्यथा०—सारोद्धारिणी के अनुसार 'अन्यथावृत्ति' का अर्थ 'अस्वस्थम्' या 'प्रचलोत्कलिकाकुलम्' इस प्रकार है। देखिये—विक्रमोर्वशी, अंक IV—'एतेन पुनर्निवृत्तानामप्युत्कण्ठा कारिणा मेघोदयेनाऽनर्थाधीनो भविष्यति'। और देखिए—ऋतु० II. १ 'समागतः......घनागमः कामिजन-प्रियः प्रिये!' ॥३॥

अथ समाहितान्तःकरणः सन्किं कृतवानित्यत आह—

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी[1]
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
स [2]प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

अन्वयः—सः (यक्षः) नभसि प्रत्यासन्ने दयिताजीविताऽऽलम्बनार्थी जीमूतेन स्वकुशलमयीं प्रवृत्तिं हारयिष्यन् प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै (जीमूताय) प्रीतः (सन्) प्रीति-प्रमुख-वचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

(सं०) प्रत्यासन्न इति। स यक्षः। यश्चिरं दध्यौ स इत्यर्थः। नभसि श्रावणे। "नभः खं श्रावणो नभाः" इत्यमरः। प्रत्यासन्ने आषाढस्यानन्तरं संनिकृष्टे। प्राप्ते सतीत्यर्थः। दयिताजीवितालम्बनार्थी सन्। वर्षाकालस्य विरहदुःखजनकत्वात् "उत्पन्नानर्थप्रतीकारादनर्थोत्पत्तिप्रतिबन्ध एव वरम्" इति न्यायेन प्रागेव प्रियाप्राणधारणोपायं चिकीर्षुरित्यर्थः। जीवनस्योदकस्य मूतः पटबन्धो वस्त्रबन्धो जीमूतः। पृषोदरादित्वात्साधुः। "मूतः स्यात्पटबन्धेऽपि"

१—लम्बानर्थं सु० वि०, म० सि०, सारो०विल्स०। २—संप्रत्यग्रैः वल्ल०

इति रुद्रः । तेन जीमूतेन जलधरेण प्रयोज्येन स्वकुशलमयीं स्वक्षेमप्रधानां प्रवृत्तिं वार्ताम् । "वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः" इत्यमरः । हारयिष्यन् प्रापयिष्यन् । "लृट् शेषे च" (३ । ३ । १३) इति चकारात्क्रियोपपदाल्लृट्प्रत्ययः । जीवनार्थं कर्म जीवनप्रदेनैव कर्तव्यमिति भावः । "हृक्रोरन्यतरस्याम्" (१ । ४ । ५३) इति कर्मसंज्ञाया विकल्पात्पक्षे कर्तरि तृतीया । प्रत्यग्रैरभिनवैः कुटजकुसुमैर्गिरिमल्लिकाभिः । "कुटजो गिरिमल्लिका" इति हलायुधः । कल्पितार्घाय कल्पितोऽनुष्ठितोऽर्घः पूजाविधिर्यस्मै तस्मै । "मूल्ये पूजाविधावर्घः" इत्यमरः । तस्मै जीमूताय । "क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्" इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । प्रीतिप्रमुखानि प्रीतिपूर्वकाणि वचनानि यस्मिन्कर्मणि तत्प्रीतिप्रमुखवचनं यथा तथा । सु शोभनमागतं स्वागतं स्वागतवचनं प्रीतः सन् व्याजहार । कुशलागमनं पप्रच्छेत्यर्थः । नाथेन त्वत्र—"प्रत्यासन्ने नभसि" इति साधीयान्पाठः कल्पितः । प्रत्यासन्ने प्रकृतिमापन्ने सतीत्यर्थः । यस्तु तेनैव पूर्वपाठविरोधः प्रदर्शितः सोऽस्माभिः 'आषाढस्य प्रशमदिवसे" इत्येतत्पाठविकल्पसमाधानेनैव समाधाय परिहृतः ॥ ४ ॥ ॥

पदार्थः—नभसि=श्रावणमास के । प्रत्यासन्ने=समीप आने पर । दयिताजीवितालम्बनार्थी=प्रिया के जीवन के आलम्बन (धारण) के इच्छुक । जीमूतेन=बादल के द्वारा । स्वकुशलमयीम्=अपनी कुशल (को बतलाने) वाले । प्रवृत्तिम्=समाचार को । हारयिष्यन्=भेजना चाहता हुआ । प्रत्यग्रैः=अभिनव (ताज़े) । कुटजकुसुमैः=गिरिमल्लिका (पहाड़ी चमेली) के फूलों से । कल्पितार्घाय=जिसके लिये अर्घ (पूजा की सामग्री) तैयार की गई है । प्रीतिप्रमुखवचनं=प्रेमपूर्वक शब्दों में (क्रियाविशेषण) । स्वागतम्=शुभागमन । व्याजहार=कहा ॥४॥

भाषानुवादः—सावन के समीप आने पर प्रिया के प्राण धारण के इच्छुक उस (यक्ष) ने मेघ द्वारा अपना कुशल-समाचार पहुँचाने की अभिलाषा

से ताज़े चमेली के फूलों से अर्घ-सामग्री तैयार करके उस (मेघ) को प्रसन्न हो, प्रेम-पूर्वक शब्दों में "स्वागतम्" कहा ।।४।।

व्याकरणम्—प्रत्यासन्ने=प्रति+आ+√सद् (भ्वा० प०)+कर्त्तरि, क्त, सति सप्तमी एकवचन। नभसि=नभस् (नपुं०) सप्तमी एक०। दयिता जीविता०=दयिताया जीवितं (ष० तत्पु०) दयिताजीवितं तस्य आलम्बनं तस्य अर्थी, सः का विशेषण। जीमूतेन=जीवनस्य उदकस्य मूतः पटबन्धः जीमूतः (पृषोदरादित्वात्साधुः)। स्वकुशल०=स्वस्य कुशलम (ष० तत्पु०) तेन प्रकृतमिति स्वकुशल+मयट् स्त्रियाम्। हारयिष्यन्=√हृ (भ्वा० उभ०)+णिच (प्रेरणार्थक) भविष्यदर्थ में शत्रन्त, प्रथ० एक० 'सः' का विशेषण। प्रत्यग्रैः=अग्रं प्रतिगतः प्रत्यग्रः तैः। कल्पितार्घाय=कल्पितोऽर्घो यस्मै (बहुव्री०)। तस्मै=तद् (पु०) चतु० एक०। सम्प्रदाने चतुर्थी। प्रीतिप्रमुख०=प्रीतिप्रमुखानि वचनानि यस्मिन् कर्मणि यथा तथा (बहुव्री०), क्रि० विशे०। स्वागतम्=सु (अव्यय)+आ+√गम्+क्त, भावे आगतं, सुशोभनमागतम्। (नित्यकर्मधा०) व्याजहार=वि+आ√हृ (भ्वा० उभ०), लिट, प्र० पु० एक० ।।४।।

विशेषः—प्रत्यासन्ने नभसि=श्रावणमास विरही प्रेमियों के लिए दुःख देनेवाला होता है। देखिए—श्लोक, ८ 'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्'। निम्नलिखित उक्तियां भी देखिए—'शिखिनि कूजति गर्जति तोयदे स्फुरति जातिलता कुसुमाकरे। अहह पान्थ! न जीवति ते प्रिया नभसि मासि न वासि गृहं यदि ।।' 'उपरि पयोधरमाला दूरे दयिता किमेतदापतितम्। हिमवति दिव्यौषधयः कोपाविष्टः फणी शिरसि ।।' मुद्रा०।

कल्पितार्घाय=अर्ह्यते अनेन इति अर्घः। 'अर्घ' की व्युत्पत्ति √अर्ह् अथवा √अर्घ से हुई है। 'अर्घ' किसी देवता, प्रतिष्ठित व्यक्ति या अतिथि विशेष को दिया जाता है। सामान्यतः इसमें निम्न-लिखित वस्तुएं होती हैं—'आपः

क्षीरं कुशाग्राणि दधि सर्पिश्च तण्डुलाः। यवाः सिद्धार्थकं चैव अष्टांगार्घ्यं कीर्तितम् ॥'

प्रीतिप्रमुख०=मल्लि० इसे क्रि० विशे० मानता है, पर सारोद्धारिणी में इसे 'स्वागतम्' का विशेषण मान कर इसकी यों व्याख्या की गई है—प्रीत्या प्रमुखं स्नेह-निर्भरं वचनं यत्र तत् स्वागतम् ॥४॥

ननु चेतनसाध्यमर्थं कथमचेतनेन कारयितुं प्रवृत्त इत्यपेक्षायां कविः समाधत्ते—

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि [1]प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ ५ ॥

R.C.

अन्वयः——धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः मेघः क्व! पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः सन्देशार्थाः क्व! इति औत्सुक्यात् अपरिगणयन् गुह्यकः तं ययाचे। हि कामार्ता चेतनाचेतनेषु प्रकृतिकृपणाः (भवन्ति) ॥५॥

(सं०) धूमेति। धूमश्च ज्योतिश्च सलिलं च मरुद्वायुश्च तेषां। संनिपातः संघातो मेघः क्व? अचेतनत्वात्संदेशानर्ह इत्यर्थः। पटुकरणैः समर्थेन्द्रियैः। "करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि" इत्यमरः। प्राणिभिश्चेतनैः। "प्राणी तु चेतनो जन्मी" इत्यमरः। प्रापणीयाः प्रापयितव्याः। संदिश्यन्त इति संदेशास्त एवार्थाः क्व? इत्येवमौत्सुक्यादिष्टार्थोद्युक्तत्वात्। "इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः" इत्यमरः। अपरिगणयन्नविचारयन् गुह्यको यक्षस्तं मेघं ययाचे याचितवान्। "याचृ याच्ञायाम्"। यथा हि—कामार्ता मदनातुराश्चेतनाश्चाचेतनाश्च तेषु

---

[1]—प्रणय।

विषये प्रकृतिकृपणाः स्वभावदीनाः । कामान्धानां युक्तायुक्तविवेकशून्यत्वादचेतन-याच्ञा न विरुध्यत इत्यर्थः । अत्र मेघ-संदेशयोर्विरूपयोर्घटनाद्विषमालंकारः । तदुक्तम्––"विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना चासौ विषमालंकृतिस्त्रिधा ।।" इति । सा चार्थान्तरन्यासानुप्राणिता तत्समर्थकत्वेनैव चतुर्थपादे तस्योपन्यासात् ।।५।।

पदार्थः—धूमज्योतिः सलिल०=धूआँ, प्रकाश, जल और वायु का । संनि-पातः=मिश्रण, मेल । सन्देशार्थाः=सन्देश की बातें। पटुकरणैः=समर्थ इन्द्रियों-वाले । प्रापणीयाः=पहुंचाए जाने योग्य । इति=यह । औत्सुक्यात्=उत्कण्ठा के कारण । अपरिगणयन्=न विचारते हुए। गुह्यकः=यक्ष ने । ययाचे=प्रार्थना की । कामार्ताः=काम से पीड़ित । चेतनाचेतनेषु= सजीव और निर्जीव पदार्थों के विषय में । प्रकृतिकृपणाः=स्वभाव से दीन, विवेक-रहित ।।५।।

भाषानुवादः—'कहां तो धूआँ, प्रकाश, जल और वायु और कहां सशक्त इन्द्रियोंवाले प्राणियों द्वारा पहुंचाए जानेवाले सन्देश' इस (बात) को न विचारते हुए यक्ष ने उस (बादल) से प्रार्थना की; क्योंकि काम से पीड़ित लोग जड़-चेतन पदार्थों के विषय में स्वभावतः विवेकशून्य हुआ करते हैं ।।५।।

व्याकरणम्—धूमज्योतिः०=धूमश्च ज्योतिश्च सलिलं च मरुच्च (द्वन्द्व समास) तेषां संनिपातः (ष० तत्पु०) । संनिपातः=सम्+नि+√पत् (भ्वा० प०)+घञ् भावे । पटुकरणैः=पटूनि करणानि (इन्द्रियाणि) येषाम्, बहुव्री. तैः । प्राणिभिः का विशे० । प्रापणीयाः=प्र+√आप् (स्वा० प०)+अनीय (कृत्यप्र०) । सन्देशार्थाः–सन्देशाः ते एव अर्थाः (कर्मधारय); भवन्ति लुप्त क्रिया का कर्ता । औत्सुक्यात्=उत्सुकस्य भावः औत्सुक्यम् तस्मात् कारणात् । अपरिगणयन्=न+परि+√गण्+अत् (शतृ)। ययाचे=√याच (भ्वा०आ०) लट् लकार, प्र० पु० एक० । कामार्ताः=कामेन आर्ताः (तृ० तत्पु०) । प्रकृति-

कृपणाः=प्रकृत्या कृपणाः (तृ० तत्पु०)। चेतनाचेतनेषु=चेतनाश्चाचेतनाश्च (द्वन्द्व) तेषु। गुह्यकः=गुह्यं कुत्सितं कायति √कै=शब्दे+कः। गुह्यं गोपनीयं कं सुखं यस्येति वा। गूहति निधिं रक्षति,√गुह्+अक् (ण्वुल्)। यहां धातु और प्रत्यय के बीच 'य' अनियमित रूप से लगा है॥५॥

विशेषः—क्व············क्व = द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः। क्व········· क्व यह विषमालंकार का उदाहरण है। विषमालंकार में दो विषम वस्तुओं को बताया जाता है। देखिए—रघु० I, २ 'क्व सूर्य-प्रभवो वंशः क्व चाल्प-विषया मतिः,। पुनः, अभि० शाकु० I, १० 'क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते'। और देखिए इसी नाटक का II. १८ श्लोक 'क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः'। कुमार० में ५, ४ श्लोक में भी देखिए 'तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः'।

धूमज्योतिः सलिल०=इस पाद से हमें यह पता लगता है कि कवि कालिदास भौतिक विज्ञान तथा रासायनिक विज्ञान से भी परिचित था। 'मेघ' के अवयव—धूआँ, ज्योति (अग्नि), जल तथा वायु बता कर अच्छा रासायनिक विश्लेषण दिखाया है, इस पंक्ति से हमें कवि का प्रकृति-निरीक्षण का उदाहरण भी मिलता है।

कामार्ता हि प्रकृति०=इसम अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसमें सामान्य का विशेष अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन होता है। प्रस्तुत पद्य में विशेष का सामान्य से समर्थन किया गया है॥५॥

संप्रति याञ्चाप्रकारमाह—

जातं वंशे भुवनविदिते [1]पुष्करावर्तकानां

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।

१—पुष्कला० का० पा०।

तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञामोघा[1] वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥

अन्वयः—(हे मेघ !) त्वां भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां वंशे जातं कामरूपं मघोनः प्रकृतिपुरुषं जानामि, तेन विधि-वशात् दूरबन्धुः अहम् त्वयि अर्थित्वम् गतः। अधिगुणे याच्ञा मोघा (अपि) वरम्, अधमे लब्धकामा (अपि) न वरम् ॥६॥

(सं०) जातमिति। हे मेघ ! त्वां भुवनेषु विदिते भुवनविदिते। "निष्ठा–" (१।२।१९) इति भूतार्थे क्तः। "मतिबुद्धि–" (३।२।१८८) इत्यादिना वर्तमानार्थत्वे तु "क्तस्य च वर्तमाने" (२।३।६७) इति 'भुवन' शब्दस्य षष्ठयन्ततानियमात्समासो न स्यात्। "क्तेन च पूजायाम्" (२।२।१२) इति निषेधात्। पुष्कराश्चावर्तकाश्च केचिन्मेघानां श्रेष्ठास्तेषां वंशे जातम्। महाकुलप्रसूतमित्यर्थः। कामरूपमिच्छाधीनविग्रहम्। दुर्गादिसंचारक्षममित्यर्थः। मघोन इन्द्रस्य प्रकृतिपुरुषं प्रधानपुरुषं जानामि। तेन महाकुलप्रसूतत्वादिगुणयोगित्वेन हेतुना। विधिवशाद्दैवायत्तत्वात्। "विधिर्विधाने दैवे च" इत्यमरः। "वशमायत्ते वशमिच्छाप्रभुत्वयोः" इति विश्वः। दूरे बन्धुर्यस्य स दूरबन्धुर्वियुक्तभार्योऽहं त्वय्यर्थित्वं गतः। ननु याचकस्य याच्ञायां याच्यगुणोत्कर्षः कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्य, दैवाद्याच्ञाभङ्गेऽपि लाघवदोषाभाव एवोपयोग इत्याह—याच्ञेति। तथा हि—अधिगुणेऽधिकगुणे पुंसि विषये याच्ञा मोघा निष्फलापि वरमीषत्प्रियम्। दातुर्गुणाढ्यत्वात्प्रियत्वं याच्ञावैफल्यादीषत्प्रियत्वमिति भावः। अधमे निर्गुणे याच्ञा लब्धकामापि सफलापि न वरम्। ईषत्प्रियमपि न भवतीत्यर्थः। "देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये" इत्यमरः। अर्थान्तरन्यासानुप्राणितः प्रेयोऽलंकारः। तदुक्तं दण्डिना (काव्या० २।२७५)—"प्रेयः प्रियतराख्यानम्" इति। एतदाद्ये पादत्रये चतुर्थपादस्थेनार्थान्तरन्यासेनोपजीवितमिति सुव्यक्तमेतत् ॥६॥

१—वन्ध्या।

पदार्थः--भुवनविदिते=भुवनों में प्रसिद्ध। पुष्करावर्तकानाम्=पुष्कर और आवर्तकों के। इस पद के विशेष परिचय के लिए नीचे विशेष देखिए। कामरूपम्=इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाले। मघोनः=इन्द्र के। प्रकृतिपुरुषम्=प्रधान पुरुष, सर्वे सर्वा। विधिवशात्=भाग्यवश। दूरबन्धुः=दूरस्थित बन्धु (स्त्री) वाला। अर्थित्वं गतः = याचक बना हूं। अधिगुणे = अधिक गुणवाले (व्यक्ति) के प्रति। याच्ञा = याचना, प्रार्थना। मोघा अपि= निष्फल भी। वरम् = अच्छी। अधमे = नीच के प्रति। लब्धकामा = सफल हुई (पूरी की गई) ॥६॥

भाषानुवादः—(हे मेघ!) 'मैं जानता हूं कि तुम भुवनों में प्रसिद्ध 'पुष्कर' और 'आवर्तकों' के कुल में पैदा हुए, इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाले, इन्द्र के प्रधान-पुरुष हो; इसलिए भाग्यवश दूर-बन्धु (स्त्री) वाला मैं तुम्हारा याचक बना हूँ। अधिक गुणवाले (व्यक्ति) के प्रति की गई प्रार्थना निष्फल (हुई भी) अच्छी है, नीच के प्रति सफल (हुई भी) अच्छी नहीं है ॥६॥

व्याकरणम्--भुवनविदिते=भुवनेषु विदिते, √विद् (अ०)+त (क्त)। जातम्=√जन् (दिवा० आ०) + क्त। कामरूपम्=कामकृतानि रूपाणि (मध्यमपदलोपी) यस्य (बहुव्री०)। मघोनः = 'मघवत्' शब्द का ष० एक०। शेषे षष्ठी, मह्यते पूज्यते असौ मघवा। प्रकृतिपुरुषम् = प्रकृतिषु पुरुषः (प्रधानभूतः) (स० तत्पु०), अथवा प्रकृतिश्चासौ पुरुषश्च (कर्म० समास)। दूरबन्धुः = दूरे बन्धुर्यस्य सः (यक्षः), बहुव्री०। बध्नाति स्नेहेन हृदयमिति; √बन्ध् (क्र्या० प०, बांधना)+उ+दूरः = दूरस्थः तादृशः बन्धुः। अर्थित्वम् = अर्थयते असौ अर्थी √अर्थ+इन् (णिनि)। गतः = √गम्, (भ्वा० प०) जाना+त (क्त) प्र० पु० एक०। अधिगुणे = गुणमधिगतः प्रादि तत्पु० अथवा अधि (अधिक) गुणो यस्य तस्मिन्। (बहुव्री०) याच्ञा = √याच्+न (नङ्)। लब्धकामा = लब्धः कामः यया सा बहु० व्री० ॥६॥

विशेषः—पुष्करावर्तकानाम् = मल्लि० के अनुसार 'पुष्कर' और 'आवर्तक' से दो प्रकार की मेघों की श्रेष्ठ जातियों का बोध होता है। सारोद्धारिणी में इस पद की निम्नप्रकार से व्याख्या की गई है—'पुष्करं पानीयमावर्तयन्ति यथाकामं पृथिव्यां भ्रमयन्ति इति'। विल्सन (wilson) महोदय का विचार है कि 'पुष्कर' और 'आवर्तक' ये नाम इसलिए पड़े हैं कि इन शब्दों से 'आवर्त' (जलभँवर) का बोध होता है। ब्रह्म पु० और पुराण-सर्व० में इनके विषय में यह कहा है—'पुष्करा नाम ते मे । बृंहतस्तोयमत्सराः । पुष्करावर्तकास्तेन कारणेनेह शब्दिताः । नानारूपधरास्ते तु महाघोरस्वनास्तथा । कल्पान्ते वृष्टिकर्तारः संवर्ताग्नेर्नियामकाः ।' मोनियर विलियम के अनुसार 'पुष्करावर्तक' का पुंल्लि० बहु० में प्रयोग होता है और इनसे मेघों की उस जाति से अभिप्राय है जो मृत्यु और दुर्भिक्ष का कारण होती है। 'पुष्करावर्तकानाम्' के प्रयोग के लिए देखिए कु० स० II, ५० 'तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु'; और देखिए वेणी० III, ५ 'छन्नमेघैर्न गगनतलं पुष्करावर्तकाद्यैः'। कहीं-कहीं 'पुष्कर' के स्थान में 'पुष्कल' ऐसा पाठान्तर 'मिलता है।' 'रलयोरभेदः' इस नियम से 'र' को 'ल' होने से अर्थ में कोई भेद नहीं होता है।

याच्ञामोघा वरमधिगुणे० = इस पाद में विशेष का सामान्य से समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसी प्रकार के विचार के लिए देखिए—किरात० I, ८ 'समुन्नयन्भूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः' ।।६।।

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ! प्रियायाः
संदेशं मे हर [1]धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ।।७।।

१—धनपतेः ।

अन्वयः—हे पयोद ! त्वं सन्तप्तानां शरणम् असि, तत् धनपतिक्रोध-विश्लेषितस्य मे सन्देशं प्रियायाः हर। ते यक्षेश्वराणां बाह्योद्यान-स्थित-हर-शिरश्चन्द्रिका-धौतहर्म्या अलका नाम वसतिः गन्तव्या ॥७॥

(सं०) संतप्तानामिति। हे पयोद ! त्वं संतप्तानामातपेन वा प्रवासविरहेण वा संज्वरितानाम् "संतापः संज्वरः समौ" इत्यमरः। शरणं पयोदानेनातप-स्विन्नानां प्रोषितानां स्वस्थानप्रेरणया च रक्षकोऽसि। "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः। तत्तस्मात्कारणाद्धनपतेः कुबेरस्य क्रोधेन विश्लेषितस्य प्रियया वियोजितस्य मे मम संदेशं वार्तां प्रियाया हर। प्रियां प्रति नयेत्यर्थः। संबन्धसामान्ये षष्ठी। संदेशहरणेनावयोः संतापं नुदेत्यर्थः। कुत्र स्थाने सा स्थिता, तत्स्थानस्य वा किं व्यावर्तकं तत्राह—गन्तव्येति। बहिर्भवं बाह्यम्। "बहिर्देव-पञ्चजनेभ्यश्च" इति यञ्। बाह्ये उद्याने स्थितस्य हरस्य शिरसि या चन्द्रिका तया धौतानि निर्मलानि हर्म्याणि धनिकभवनानि यस्यां सा तथोक्ता। "हर्म्यादि धनिनां वासः" इत्यमरः। अनेन व्यावर्तकमुक्तम्। अलका नामालकेति प्रसिद्धा यक्षेश्वराणां वसतिः स्थानं ते तव गन्तव्या। त्वया गन्तव्येत्यर्थः। "कृत्यानां कर्तरि वा" (२।३।७१) इति षष्ठी ॥७॥

पदार्थः—पयोद = बादल। सन्तप्तानाम् = ताप से पीड़ितों की (ताप का कारण चाहे धूप हो, चाहे विरह)। शरणम् = रक्षा करनेवाला (जल देकर अथवा घर की ओर प्रेरणा करके)। धनपतिक्रोध० = कुबेर के क्रोध द्वारा (प्रिया से) वियुक्त हुए। बाह्योद्यानस्थित० = जिसके महल बाहर के उद्यान (बाग) में रहनेवाले शिव के सिर पर स्थित (चन्द्रमा की) चन्द्रिका (चांदनी) से धुले रहते हैं अर्थात् प्रकाशित हैं ऐसे। वसतिः = स्थान। गन्तव्या = जाना है ॥७॥

भाषानुवादः—हे मेघ ! तुम ताप से पीड़ितों की रक्षा करनेवाले हो, इसलिए कुबेर के क्रोध से [प्रिया—] वियुक्त हुए मेरे सन्देश को प्रिया के

पास ले जा ओ । तुम्हें यक्षेश्वरों की अलका नाम की पुरी जाना है, जहां के महल बाहर के उद्यान में रहनेवाले महादेव के सिर पर स्थित [चन्द्रमा की] चांदनी से धुले रहते हैं ॥७॥

व्याकरणम्—पयोद = पयः ददाति इति, सम्बोधन। सन्तप्तानाम् = सम्+√तप्, [भ्वा० प०]+क्त तेषाम्। असि = √अस् [अदा० गण प०], लट् लकार म० पु० एक०। धनपतिक्रोध० = धनपतेः क्रोधेन विश्लेषितस्य। वि+√श्लिष् [दिवा० प०], णिच्+त, तस्य। हर = √हृ, [भ्वा० उभ०], लोट् म० पु० एक०। बाह्योद्यानस्थित० = बाह्ये उद्याने स्थितस्य हरस्य शिरसि या चन्द्रिका तया धौतानि हर्म्याणि यस्यां सा तथोक्ता [बहु व्री०]। बहिः भवम् इति बाह्यम्। बाह्यमुद्यानं कर्म०। अलका = अलति भूषयति इति अलका; इसमें √अल् के साथ क्वन् प्रत्यय है। नाम = प्राकाश्ये अव्ययम्। 'नाम प्राकाश्य-सम्भाव्य-क्रोधोपगमकुत्सनेषु-च' इत्यमरः। गन्तव्या = √गम्+(भ्वा० प०) तव्य (कृत्यप्र०) स्त्रीलि० ॥७॥

विशेषः—शिरश्चन्द्रिका='मूर्ध्निबद्धचन्द्रकला' सारोद्धारिणी। श्लोक ४५ और ४६ में 'नवशशिभृता' तथा 'हरशशिरुचा' शब्दों का प्रयोग हुआ है। विशेष परिचय के लिये इन श्लोकों का 'विशेष देखें। इसके अतिरिक्त देखिये कु० सं० VII. १९ 'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहास-पूर्वम्'। यक्षेश्वराणाम्=इसके विषय में सारोद्धारिणी और सुमतिविजय का कथन है-"गुरावेकश्चेति पूज्यत्वाद्बहुवचनम्"; देखिये हेमचन्द्र II. २. १२४।

अलका—यह धन-देवता कुबेर की राजधानी है, जो स्वयं उत्तर दिशा का स्वामी है। अलका को वसुन्धरा, वसुस्थली और प्रभा भी कहते हैं। यह कैलाश पर्वत पर, जो कि हिमालय की चोटी है, स्थित है। देखिये—'विभाति यस्यां ललितालकायां मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः' B. V., II. ९ ॥७॥

मदर्थं प्रस्थितस्य ते पथिकाङ्गनाजनाश्वासनमानुषङ्गिकं फलमित्याह—

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः[1] ।
कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव[2] जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

अन्वयः——पवन-पदवीम् आरूढं त्वां पथिकवनिताः प्रत्ययात् आश्वसन्त्यः (तथा) उद्गृहीतालकान्ताः (सत्यः) प्रेक्षिष्यन्ते । त्वयि संनद्धे (सति) विरह-विधुरां जायां कः उपेक्षेत अन्यः अपि यः जनः अहम् इव पराधीनवृत्तिः न स्यात् ॥८॥

(सं.) त्वामिति । पवनपदवीमाकाशमारूढं त्वाम् । पन्थानं गच्छन्ति ते पथिकाः । "पथः ष्कन्" (५।१।७५) इति ष्कन्प्रत्ययः । तेषां वनिताः प्रोषितभर्तृकाः । प्रत्ययात् प्रियागमनविश्वासात् । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु" इत्यमरः । आश्वसन्त्यो विश्वसिताः । श्वसधातोः शत्रन्तात् "उगितश्च" (४।१।६) इति ङीप् । तथा उद्गृहीतालकान्ता दृष्टिप्रसारार्थमुन्नमय्य धृतालकाग्राः सत्यः प्रेक्षिष्यन्ते । अत्युत्कण्ठतया द्रक्ष्यन्तीत्यर्थः । मदागमनेन पथिकाः कथमागमिष्यन्तीत्यत्राह—तथा हि——त्वयि संनद्धे व्यापृते सति विरहेण विधुरां विवशां जायां क उपेक्षेत ? न कोऽपीत्यर्थः । अन्योऽपि मद्व्यतिरिक्तोऽपि यो जनोऽहमिव पराधीनवृत्तिः परायत्तजीवनको न स्यात् । स्वतन्त्रस्तु न कोऽप्युपेक्षेतेति भावः । अत्रार्थान्तरन्यासोऽलंकारः । तदुक्तम्—"कार्यकारणसामान्यविशेषाणां परस्परम् । समर्थनं यत्र सोऽर्थान्तरन्यास उदाहृतः ।" इति लक्षणात् ॥ ८ ॥

पदार्थः—पवन-पदवीम्=वायु मार्ग को, आकाश में । आरूढम्=चढ़े हुये, जाते हुये । पथिकवनिताः=पथिकों (परदेश गये हुये व्यक्तियों) की स्त्रियां । प्रत्ययात्=(उनके घर लौट आने के) विश्वास से । आश्वसन्त्यः=

१ आश्वसत्यः मल्लि० सा० । २ न्योऽप्ययमिव का. पा. ।

आश्वासन रखती हुईं, आशा पूर्ण हो। उद्गृहीतालकान्ताः=बालों के अग्र भाग को ऊपर पकड़े हुये। प्रेक्षिष्यन्ते=(उत्कण्ठा से) देखेंगी। त्वयि संनद्धे= तेरे तैयार होने पर, उमड़ आने पर। विरह-विधुराम्=विरह से व्याकुल। जायाम् = पत्नीको। उपेक्षेत = उपेक्षा करे (छोड़ दे)। पराधीनवृत्तिः = जिसकी आजीविका दूसरे के अधीन है ॥८॥

भाषानुवादः—आकाश में जाते हुये तुमको पथिकों की स्त्रियां (पतियों के घर लौट आने के) विश्वास से आशापूर्ण हो बालों के अग्रभाग को ऊपर किए हुये देखेंगी। तुम्हारे उमड़ आने पर विरह से व्याकुल हुई पत्नी की उपेक्षा दूसरा कौन व्यक्ति करे जिसकी कि आजीविका मेरी तरह दूसरों के अधीन न हो? (अर्थात् कोई नहीं) ॥८॥

व्याकरणम्—आरूढम् = आ+√रुह् (भ्वा० प०)+क्त। उद्गृहीता० = उद्गृहीता अलकानामन्ताः याभिः ताः (बहुव्री०)। उद्गृहीत = उद्+ √ग्रह् (क्र्या० उभ०) + ई + क्त। पथिकवनिताः = पन्थानं गच्छन्ति ते पथिकाः (ष्कन् प्रत्ययः) तेषां वनिताः प्रोषितभर्तृकाः। प्रत्ययात् = प्रति+√इ+अच् भावे प्रत्ययः तस्मात्। आश्वसन्त्यः = आ+ √श्वस् (अदा० प०) से शत्रन्त+ङीप् (ई) प्रत्यय लगाने से 'आश्वसन्ती' रूप बना। फिर नदी के समान इसके रूप हुये। प्रेक्षिष्यन्ते = प्र+ईक्ष् (भ्वा० आ०), लृट् प्र० पु० बहु०।

संनद्धे = सम्+√नह् (दिवा० प०)+क्त; सप्तमी एक०। विरह-विधुराम् = विरहेण विधुरा ताम् (तृ०त०)। विधुरा = विगता धूः अस्याः इति विधुरा (बहुव्री०)। त्वयि संनद्धे = सप्तमी (Locative absolute)। उपेक्षेत = उप+√ईक्ष् (भ्वा० आ०), विधिलिङ् प्र० पु० एक०। पराधीनवृत्तिः = परस्मिन्नधीना पराधीना वृत्तिर्यस्य (बहुव्री०) ॥८॥

विशेष:—आश्वसन्त्यः = पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'आश्वसन्त्यः' यह

प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि 'श्वस्' अदादिगण का धातु है इसलिये अ (शप्) के लोप हो जाने से 'शप्श्यनोर्नित्यम्' से यहां नुम् (न्) न होकर 'आश्वसत्यः' यही होना चाहिये था, किन्तु काशिकाकार 'न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्' (महाभारत) "आश्वसेयुर्निशाचराः" (भट्टि०) इत्यादि उदाहरण देकर "आश्वसन्त्यः का समर्थन करता हुआ अन्त में कहता है "निरङ्कुशाः कवयः"। माधव अपने धातुपाठ में कालिदास के 'आश्वसन्त्यः' का उदाहरण देकर कहता है कि गणकार्य अनित्य होता है, अतएव इस अदादिगण के 'श्वस्' धातु में 'शप्' का लोप नहीं हुआ है। इन सब उदाहरणों में 'श्वस्' भ्वादिगण का ही माना गया है। कुछ प्रतियों में तो 'आश्वसत्यः' ऐसा पाठ मिलता है।

'संनद्धे' की सारोद्धारिणी में इस प्रकार व्याख्या है—'प्रकटितसुरधनु-तडिल्लता-गर्जितादि सामग्रीके'। देखिये विक्र० VI. १. 'नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः।'

विरहविधुराम् = क्षीरस्वामी 'विधुर' का विग्रह इस प्रकार करते हैं—'विघटिता धूः कार्यभारोऽस्य।'

इस श्लोक में, अर्थान्तरन्यास अलंकार है, जिसका यह लक्षण है—'कार्यकारणसामान्यविशेषाणां परस्परम्। समर्थनं यत्र सोऽर्थान्तरन्यास उदाहृतः ॥८॥

न च तस्या नाशाद् व्रतस्खलनाद्वा निरर्थकस्त्वत्प्रयास इत्याह—

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहत[1]गतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यः[2]पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ ९ ॥

१ अविहित। २ पातप्रणयि

अन्वयः——[हे मेघ ! त्वम्] दिवस-गणना-तत्पराम् [अतएव] अव्यापन्नाम् एकपत्नीं तां भ्रातृ-जायाम् अविहतगतिः [सन्] अवश्यं द्रक्ष्यसि । आशाबन्धः प्रणयि, कुसुम-सदृशम् [अत एव] विप्रयोगे सद्यःपाति अङ्गनानां हृदयं प्रायशः रुणद्धि ॥९॥

(सं.) तां चेति । हे मेघ ! दिवसानामवशिष्टदिनानां गणनायां संख्याने तत्परामासक्ताम् । "तत्परे प्रसितासक्तौ" इत्यमरः । अत एव अव्यापन्नाममृताम् । शापावसाने मदागमनप्रत्याशया जीवन्तीमित्यर्थः । एकः पतिर्यस्याः सैकपत्नी ताम् । पतिव्रतामित्यर्थः । "नित्यं सपत्न्यादिषु" (४।१।३५) इति ङीप, नकारश्च । भ्रातुर्मे जायां भ्रातृजायाम् । भ्रातृवन्निःशङ्कं दर्शनीयामित्याशयः । तां मत्प्रियाम् । अविहतगतिरविच्छिन्नगतिः सन्नवश्यं द्रक्ष्यसि चालोकयिष्यसि एव । तथा हि—आशाऽतितृष्णा "आशा दिगतितृष्णयोः" इति यादवः । बध्यतेऽनेनेति बन्धो बन्धनम् । वृन्तमिति यावत् । आशैव बन्ध आशाबन्धः कर्ता । प्रणयि प्रेमयुक्तम् । अत एव कुसुमसदृशम् । सुकुमारमित्यर्थः । अत एव विप्रयोगे विरहे सद्यःपाति सद्योभ्रंशनशीलमङ्गनानां हृदयं जीवितम् । "हृदयं जीविते चित्ते वक्षस्याकूतहृद्ययोः" इति शब्दार्णवे । प्रायशः प्रायेण रुणद्धि प्रतिबध्नाति । अर्थान्तरन्यासः ॥ ९ ॥

पदार्थः——दिवस-गणना-तत्पराम्=[अवधि के] दिनों के गिनने में लगी हुई। अव्यापन्नाम्=न मरी हुई, जीवित । अविहतगतिः=बिना [किसी] रुकावट की गतिवाला, बे-रोकटोक जाता हुआ । भ्रातृ-जायाम्=भाई की पत्नी, भाभी [यक्ष बादल को अपना भाई समझता है] । आशाबन्धः = आशा का बन्धन, तन्तु । विप्रयोगे = वियोग में । सद्यःपाति = जल्दी ही गिरजानेवाले, शीघ्र ही टूट पड़नेवाले । प्रणयि = प्रेम से युक्त । प्रायशः = प्रायः । रुणद्धि = रोके रखता है, अर्थात् जीवित रखता है । सारोद्धारिणी में इसकी 'अवलंबते' तथा सुमतिविजय में 'धारयति' ऐसी व्याख्या की गई है ॥९॥

भाषानुवादः—[हे मेघ !] तू [अवधि के] दिनों के गिनने में लगी हुई [अत एव] जीवित [अपनी] पतिव्रता भाभी को बिना [किसी] रुकावट के जाता हुआ अवश्य देखेगा, क्योंकि आशा का तन्तु प्रेम-भरे फूल की तरह [कोमल] [अत एव], शीघ्र ही टूट पड़ जानेवाले स्त्रियों के हृदय को प्रायः वियोग में रोके रखता है ॥९॥

व्याकरणम्—दिवसगणना० = दिवसानां गणनायां तत्परा ताम् [गणना√गण् चु० प०,+णिच्+युच् भावे] अव्यापन्नाम् = अ [नञ्]+वि+आ+√पद् [दिवा० आ०]+क्त, स्त्री०, द्वि० एक० । एकपत्नीम् = एकः पतिः यस्या इति । एक+पति+ङीप् । √पत्+न+ङीप् । यहां 'न' और 'ङीप्' का प्रयोग 'नित्यं सपत्न्यादिषु' सूत्र से हुआ है । अविहतगतिः=न विहता गतिर्यस्य [बहु व्री०] । विहत—वि+√हन्, [अ० प०]+त (क्त) । द्रक्ष्यसि=√दृश् [भ्वा० प०], लृट् लकार म० पु० एक० । भ्रातृजायाम् = भ्रातुः जायाम् [ष० त०], 'जाया' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए देखिए—'पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः' ॥ मनु० IX. ८ । आशाबन्धः = आशायाः बन्धः [ष० तत्पु०] अथवा आशा एव बन्धः [कर्मधारय] । कुसुमसदृशम् = कुसुमेन सदृशम् [तृ० तत्पु०] । अङ्गनानाम् = प्रशस्तानि अङ्गानि आसाम् इति अङ्गनाः तासाम् । यहां 'न' प्रत्यय 'अङ्गात् कल्याणे' इससे सुन्दर अङ्गों के अर्थ में है । विप्रयोगे-वि+प्र√युज् [रुधा० प०]+घञ् भावे तस्मिन् । सद्यःपाति = सद्यः पतितुं शीलमस्य । सद्यः—अव्य० पत् [भ्वा० प०]+णिनि नपुं० प्र० ए० । रुणद्धि = √रुध् [रुधा० उभ०], √लट् लकार, प्र० पु० एक० ॥९॥

विशेषः—कुसुमसदृशम् = इसके लिए देखिए विक्र० I. ६. कुसुमसमबन्धनं हृदयम्' । और देखिए उत्तर० IV. १२. 'पुरंध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति । आशाबन्धः = देखिए—मालती० IX. २६. 'आशा तन्तुर्न च कथयताऽ-

त्यन्तमुच्छेदनीयः, प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः'। और देखिए—उद्धवसन्देशः ४३ 'आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धम्'। अभि० शाकु० IV में भी देखिए- 'गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति' विक्र० III 'शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम्'।

अव्यापन्नाम्—इसका अर्थ है जो मरी नहीं अर्थात् जो यथा तथा शरीर धारण किए हुए है, या जीवित है। यह साभिप्राय विशेषण है। इससे मन तथा शरीर की दुर्बलता व्यङ्ग्य है।

भ्रातृजायाम्—यक्ष मेघ को भाई समझता है, अतः उसने निज पत्नी को 'भ्रातृजाया' कहा है। इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। मल्लि० के अनुसार 'तां चावश्यम्' यह श्लोक मन्दं मन्दम् वाले अगले श्लोक के अनन्तर आता है अर्थात् यह ९वाँ श्लोक है और वह १०वाँ। परन्तु मल्लि० का यों क्रम प्रकरणानुसार ठीक-सा नहीं लगता। कारण यह है कि यक्ष ने मेघ को उसकी यात्रा का आनुषङ्गिक फल पूर्ववर्ती श्लोक 'त्वामारूढम्' में 'पथिक-वनिताओं का आश्वासन' बताया है, इसलिये 'उस के अनन्तर मुख्य फल बताना भी आवश्यक ही है और वह है 'ताञ्चावश्यम्' में भ्रातृ-जाया का दर्शन। इस श्लोक का 'च' शब्द इन दोनों फलों का समुच्चायक है। मल्लि० ने व्याख्या करते समय इस 'च' का अर्थ ही नहीं बताया। यात्रा के दोनों फल बता देने के बाद 'शुभ शकुन' के दो श्लोक आते है 'मन्दं मन्दम्' और 'कर्तुं यच्च'। पहिले में 'अनुकूल वायु, एवं वाम-स्थित चातकनदन और दूसरे में 'शिलीन्ध्रों का उद्भव एवं हंस'। इस तरह शकुन भी बता देने के बाद [आपृच्छस्व] रामगिरि से बिदा ले कर यात्रा का मार्ग बताने के लिये 'मार्गं मत्तः', श्लोक आता है। इसलिये प्रकरण-समन्वय की दृष्टि से 'त्वामारूढम्' और 'ताञ्चावश्यम्'। तदनन्तर, 'मन्दं मन्दम्' और 'कर्तुं यच्च' यही श्लोक-क्रम उचित है। का० पा० का भी यही मत है। शारदारञ्जन राय और मोरेश्वर काले ने भी यही श्लोक-क्रम दिया है, जो हमने माना है ॥९॥

निमित्तान्यपि ते शुभानि दृश्यन्त इत्याह—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
　　वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः[१]।
गर्भाधानक्षण[२]परिचयान्नूनमाबद्धमालाः
　　सेविष्यन्ते[३] नयनसुभगं[४] खे भवन्तं बलाकाः ॥ १० ॥

अन्वयः——अनुकूलः पवनः त्वां मन्दं मन्दं यथा नुदति । अयं सगन्धः चातकः ते वामः [सन्] मधुरं नदति । गर्भाधानक्षणपरिचयात् खे आबद्धमालाः बलाकाः नयन-सुभगं त्वां नूनं सेविष्यन्ते ॥१०॥

(सं.) मन्दं मन्दमिति। अनुकूलः पवनो वायुस्त्वां मन्दं मन्दम् । अतिमन्दमित्यर्थः। अत्र कथंचिद्वीप्सायामेव द्विरुक्तिर्निर्वाह्या । "प्रकारे गुणवचनस्य" (८।१।१२) इत्येतदाश्रयणे तु कर्मधारयवद्भावे सुब्लुकि मन्दमन्दमिति स्यात् । तदेवाह वामनः (काव्यालंकार. ५।२।८७)—"मन्दमन्दमित्यत्र प्रकारार्थे द्विभावः" इति। यथा सदृशम् । भाविफलानुरूपमित्यर्थः । "यथा सादृश्ययोग्यत्ववीप्सास्वार्थानतिक्रमे" इति यादवः । नुदति प्रेरयति । अयं सगन्धः सगर्वः । संबन्धीति केचित् । "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे संबन्धगर्वयोः" इत्युभयत्रापि विश्वः । ते तव वामो वामभागस्थः । "वामस्तु वक्रे रम्ये स्यात्सव्ये वामगतेऽपि च" इति शब्दार्णवे । चातकः पक्षिविशेषश्च मधुरं श्राव्यं नदति व्याहरति । इदं निमित्तद्वयं वर्तते । वर्तिष्यते चापरं निमित्तमित्याह—गर्भेति । गर्भः कुक्षिस्थो जन्तुः "गर्भोपकारके ह्यग्नौ भुखे पनसकण्टके । कुक्षौ कुक्षिस्थजन्तौ च" इति यादवः । तस्याधान-मुत्पादनं तदेव क्षण उत्सवः। सुखहेतुत्वादिति भावः । "निर्व्यापारस्थितौ काल-विशेषोत्सवयोः क्षणः" इत्यमरः । तस्मिन्परिचयादभ्यासाद्धेतोः खे व्योम्नि । आबद्धमालाः । गर्भाधानसुखार्थं त्वत्समीपे बद्धपङ्क्तय इत्यर्थः । उक्तं च कर्णो-

---

१—ते सगर्वः म० सिं० सु० वि० सा० वि०, तोयगृध्नुः वल्लभ । २—गर्भाधा-नक्षमपरिचयं, वि० क्षम० स्थिर० । ३—प्रेक्षिष्यन्ते । ४—सुखदम् ।

दये--"गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाके निबद्धावलयः समन्तात्" इति । बलाका बलाकाङ्गना नयनसुभगं दृष्टिप्रियं भवन्तं नूनं सत्यं सेविष्यन्ते । अनुकूलमारुत-चातकशब्दितबलाकादर्शनानां शुभसूचकत्वं शकुनशास्त्रे दृष्टं तद्विस्तर-भयान्नालेखि ॥ १० ॥

पदार्थः—मन्द मन्दम् = धीरे-धीरे । यथा = अनुरूप, ठीक ही । नुदति = प्रेरणा करता है, ले जाता है। सगन्धः = अभिमानी । वामः = बायाँ, बांई ओर स्थित । नदति = शब्द करता है, बोलता है । गर्भाधान-क्षण-परि-चयात् = गर्भ धारण करने (संभोग) के आनन्द के अभ्यास के कारण । खं = आकाश में । आबद्ध-मालाः = पंक्तियां बांधे हुए । नयन-सुभगम् = आँखों को सुन्दर लगनेवाले । बलाकाः = बक-स्त्रियां । नूनम् = अवश्य, सेविष्यन्ते = सेवा करेंगी ॥१०॥

भाषानुवादः—अनुकूल पवन तुझे धीरे-धीरे ठीक ही ले जा रहा है; यह अभिमानी चातक तेरे बांई ओर स्थित हो मीठा बोल रहा है । गर्भाधान रूपी आनन्द के अभ्यास के कारण आकाश में पङ्क्तियां बांधे हुए बगुलियां आँखों को सुन्दर लगनेवाले तेरी सेवा अवश्य करेंगी ॥१०॥

व्याकरणम्—मन्दं मन्दम् = यह 'भृशार्थ' में (अधिकता को सूचित करने के अर्थ में) द्विरुक्ति है । इसका अर्थ बहुत धीरे है । वामन का 'मन्दं मन्दमित्यत्र, प्रकारार्थे द्विर्भावः, यह कहना गलत है, क्योंकि यहां 'मन्द मन्दं' से मन्द-सा वा कुछ मन्द अर्थ विवक्षित नहीं है । साथ ही 'प्रकारार्थे द्वित्वं कर्मधारयवत्' होता है, इसलिए यहां समास होने पर 'मन्द-मन्दं' होना चाहिए था न कि 'मन्दं मन्दम्' । इस प्रकार 'मन्द-मन्दम्' का अर्थ बहुत धीरे-धीरे ही है । वामः = वामस्थः नुदति = √नुद् (प्रेरणा करना) [तुदा० प०], लट् प्र० पु० एक० । नदति = √नद् (अव्यक्त शब्द करना) [भ्वा० प०], लट प्र० पु० एक० । गर्भाधानक्षण० = गर्भस्य आधानं तदेव क्षणः (उत्सवः) तस्मिन् परिचयात् ।

आबद्धमालाः = आबद्धाः मालाः याभिः (बहुव्री०) ताः । नयनसुभगम् = नयनयोः सुभगः (शेषषष्ठ्या समासः) तम् । सेविष्यन्ते = √सेव् (भ्वा०आ०) लृट् प्र० पु० एक० ॥१०॥

विशेषः—यथा = मल्लि० ने इसका अर्थ 'सदृश' 'ठीक' किया है, परन्तु सारोद्धारिणी और सुमतिविजय इसे श्लोक के पूर्वार्ध में आए हुए उपवाक्यों को उत्तरार्ध में दिए गए प्रधान—वाक्य के साथ जोड़नेवाले संयोजक 'ज्यों' के अर्थ में लेते हैं। ऐसा करने से श्लोकार्थ यों होगा--'ज्यों ही अनुकूल वायु तुझे धीरे-धीरे ले जायगा और यह अभिमानी चातक तेरे बांई ओर स्थित हो मीठा बोलेगा, गर्भाधान रूपी आनन्द के अभ्यास के कारण आकाश में पङ्क्तियां बांधे हुए बगुलियां·········सेवा करेंगी'। वामश्चायम्—इस सम्बन्ध में विल्सन (Wilson) महोदय यह श्लोक देते हैं–'बर्हिणश्चातकाश्चाषा ये च पुंसंगिताः खगाः । मृगा वा वामगा दृष्टाः सैन्यसम्पद्बलप्रदाः।' मोर, चातक आदि पक्षियों का तथा हरिणों का बांई ओर से होकर जाना शुभ शकुन है।

सगन्धः = इसका दूसरा अर्थ 'सम्बन्धी' भी है जो इस स्थल में भी ठीक बैठता है, क्योंकि कविता की दृष्टि से 'बादल' और 'चातक' का परस्पर बड़ा सम्बन्ध है। देखिए—अभि० शाकु० V 'सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति'।

गर्भाधानक्षण० = इसका यह भी अर्थ हो सकता है–गर्भाधाने गर्भग्रहणावसरे क्षणं क्षणमात्रं परिचयः संगमः तस्मात् अर्थात् गर्भग्रहण के अवसर में क्षण भर के लिए ही मेल होने के कारण। सुमतिविजय ने इस अर्थ को माना है।

सेविष्यन्ते नयन० = देखिए V मृच्छ० २३ 'प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमलिङ्गितः (मेघः)। 'बलाका' का सदा स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता है, अतः 'बलाकाः' का बकपङ्क्तियां अर्थ है ॥१०॥

संप्रति सहायसंपत्तिश्चास्तीत्याह—

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां[1]

तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।

आ कैलासाद् बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः

संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ ११ ॥

अन्वयः——यत् च महीम् उच्छिलीन्ध्राम् (अत एव) अवन्ध्यां कर्तुं प्रभवति, तत् श्रवणसुभगं ते गर्जितं श्रुत्वा मानसोत्काः बिस–किसलय–च्छेद–पाथेयवन्तः राजहंसाः नभसि आ कैलासात् भवतः सहायाः सम्पत्स्यन्ते ॥११॥

(सं.) कर्तुमिति । यद् गर्जितं कर्तुं महीमुच्छिलीन्ध्रामुद्भूतकन्दलिकाम्; "कन्दल्यां च शिलीन्ध्रः स्यात्" इति शब्दार्णवे । अत एवावन्ध्यां सफलां कर्तुं प्रभवति शक्नोति । शिलीन्ध्राणां भाविसस्यसंपत्तिसूचकत्वादिति भावः । तदुक्तं निमित्तनिदाने—"कालाभ्रयोगादुदिताः शिलीन्ध्राः संपन्नसस्यां कथयन्ति धात्रीम्" इति । तच्छ्रवणसुभगं श्रोत्रसुखम् । लोकस्येति शेषः । ते तव गर्जितं श्रुत्वा मानसोत्का मानसे सरस्युन्मनसः । उत्सुका इति यावत् । "उत्क उन्मनाः" (५।२।८०) इति निपातात्साधु । कालान्तरे मानसस्य हिमदुष्टत्वाद्धिमस्य च हंसानां रोगहेतुत्वादन्यत्र गता हंसाः पुनर्वर्षासु मानसमेव गच्छन्तीति प्रसिद्धिः । बिसकिसलयानां मृणालाग्राणां छेदैः शकलैः पाथेयवन्तः । पथि साधु पाथेयं पथि भोज्यम् । "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" (४।४।१०४); तद्वन्तः । मृणालकन्दशकलसंबन्धवन्त इत्यर्थः । राजहंसा हंसविशेषाः । "राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः" इत्यमरः । नभसि व्योम्नि भवतस्तव आ कैलासात् कैलासपर्यन्तम् । पदद्वयं चैतत् । सहायाः सयात्राः । "सहायस्तु सयात्रः स्यात्" इति शब्दार्णवे । संपत्स्यन्ते भविष्यन्ति ॥ ११ ॥

---

१ उच्छिलीन्ध्रातपत्रां०, म० सि०, सु० वि०, वल्ल०, सारो०, विल्स ।

पदार्थः—यत् = जो (गर्जित)। महीम् = पृथ्वी को। उच्छिलीन्ध्राम् = उठी हुई (ऊपर प्रकट हुई) कन्दलिका (खुम्ब, छत्र आदि) वाली। अवन्ध्याम् = उपजाऊ। कर्त्तुं प्रभवति = करने को समर्थ है। श्रवणसुभगम् = कानों को सुख देनेवाला। बिसकिसलय० = मृणाल (भिस) के अग्रभाग के टुकडों को मार्ग का भोजन बनानेवाले। नभसि=आकाश में। आ कैलासात् = कैलास पर्वत तक। भवतः = तुम्हारे। सहायाः = साथ जानेवाले। "सहायस्तु सयात्रः स्यात्" इति शब्दार्णवे। सम्पत्स्यन्ते = हो जाएंगे ।।११।।

भाषानुवादः—जो पृथ्वी को उठी हुई कन्दलिकाओं (छत्र, खुम्ब) वाली (अत एव) उपजाऊ बनाने में समर्थ है, उस कानों को सुख देनेवाले तुम्हारे गर्जन को सुनकर मानसरोवर के लिए उत्सुक, कमल-नाल (भिस) के अग्र भाग के टुकड़ों को पाथेय (मार्ग का भोजन) बनाये हुए राजहंस कैलास तक तुम्हारे साथी बन जांएगे ।।११।।

व्याकरणम्—कर्त्तुम् = √कृ (तना० उभ०) तुमुन्नन्त। उच्छिलीन्ध्राम् = उद्गतानि शिलीन्ध्राणि यस्याम् (बहुव्री०)। अवन्ध्याम् = √वन्ध्+ण्यत् (कर्मणि स्त्रियाम्) न वन्ध्या इति अवन्ध्या ताम्। प्रभवति = प्र√भू 'होना' (भ्वा० प०), लट्, प्र०पु०एक०। श्रुत्वा=√श्रु 'सुनना' (भ्वा० प०)+क्त्वा। मानसोत्काः = मानसे सरसि उत्काः। 'उत्क उन्मनाः' इति निपातात्साधु। बिसकिसलय० = बिसस्य किसलयानि (ष०तत्पु०) तेषां छेदाः (ष०तत्पु०) एव पाथेयं, तदस्ति येषाम् इति। राजहंसाः का विशे०। पाथेयवन्तः = पथि साधु पाथेयं पथि भोज्यं तद्वन्तः। "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्"। नभसि = नभस् शब्द नपुं०, सप्त० एक०। आ कैलासात् = आ निपात के योग में पञ्चमी का प्रयोग होता है। सम्पत्स्यन्ते = सम्+√पद् 'जाना' (दिवा० आ०), लृट् प्र० पु० एक० ।। ११ ।।

विशेषः—उच्छिलीन्ध्राम् = उद्गतानि शिलीन्ध्राणि यस्याम्, देखिए—

हलायुध V. १५ 'छत्रके वृक्षजातौ च शिलीन्ध्रं स्मर्यते बुधैः। श्रवणसुभगं खे० = देखिए—ऋतु सं० II, ३ 'बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः।'

मानसोत्काः—देखिए—विक्र० IV. १४ 'मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम्। कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरसिञ्जितम्।' और देखिए—उत्तरमेघ श्लोक १६ 'यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टम्' मानस झील के उद्भव के बारे में रामायण में इस प्रकार कहा गया है—'कैलासशिखरे राम मनसा निर्मितं सरः। ब्रह्मणा प्रागिदं यस्मात्तदभून्मानसं सरः।' विल्सन (Wilson) के अनुसार यह झील हिमालय और कैलास के मध्य में स्थित है। कैलास पर्वत उत्तर की ओर हिमालय के समानान्तर स्थित है। यहां वर्षाकाल के प्रारम्भ में हंसों का विशेष निवास होता है। देखिए—उत्तरमेघ श्लोक १६ 'यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टम्। न स्थास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्राप्य हंसाः॥'

बिसकिसलयच्छेद०—देखिए—विक्र० IV. १५ 'पश्चात् सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं त्वं पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः' और देखिये—अभि० शाकु० II. 'तेन हि गृहीतपाथेयो भव'।

राजहंसाः = हंसविशेषाः; "राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः" इत्यमरः। हंसों का नीर क्षीर-विवेक प्रसिद्ध है। देखिये—पंच० कथामुख, 'हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात' और देखिये अभि० शाकु० VI. २८, 'हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः'।

आ कैलासात् = कैलास पर्वत हिमालय के उत्तर में स्थित है और इसे शिव तथा पार्वती का निवास स्थान कहा जाता है। शिव के मित्र कुबेर का भी यहीं निव[illegible] में पूर्वमेघ के श्लोक ६० से ६२ और टीका देखिये ॥११॥

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—पुंसां वन्द्यैः रघुपतिपदैः मेखलासु अङ्कितं तुङ्गम् अमुं प्रियसखं शैलम् आलिङ्ग्य आपृच्छस्व, काले काले भवतः संयोगम् एत्य यस्य चिर-विरहजम् उष्णं बाष्पं मुञ्चतः स्नेहव्यक्तिः भवति ॥ १२ ॥

(सं०) आपृच्छस्वेति । प्रियं सखायं प्रियसखम् । "राजाहःसखिभ्यष्टच्" (५।४।९१) इति टच् समासान्तः । तुङ्गमुन्नतं पुंसां वन्द्यैराराधनीयै रघुपतिपदै रामपादन्यासैर्मेखलासु कटकेषु । 'अथ मेखला श्रोणिस्थाने-ऽद्रिकटके कटिबन्धेभवन्धने" इति यादवः । अङ्कितं चिह्नितम् । इत्थं सखित्वान्महत्त्वात्पवित्रत्वाच्च संभावनार्हम् । अमुं शैलं चित्रकूटाद्रिमालि-ङ्ग्यापृच्छस्व 'साधो ! यामि' इत्यामन्त्रणेन सभाजय । "आमन्त्रणसभाजने । आप्रच्छन्नम्" इत्यमरः । "आङि नुप्रच्छयोरुपसंख्यानम्" (वा. ९०९) इत्या-त्मनेपदम् । सखित्वं निर्वाहयति—काल इति । काले काले प्रतिप्रावृट्-कालम् । सुहृत्समागमकालश्च 'काल' शब्देनोच्यते । वीप्सायां द्विरुक्तिः । भवतः संयोगं सपर्कमेत्य चिरविरहजमुष्णं बाष्पमूष्माणं नेत्रजलं च । "बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः" इति विश्वः । मुञ्चतो यस्य शैलस्य स्नेहव्यक्तिः प्रेमाविर्भावो भवति । स्निग्धानां हि चिरविरहसंगतानां बाष्पपातो भवतीति भावः ॥१२॥

पदार्थः—पुंसाम् = लोगों के । वन्द्यैः = आराधना के योग्य, पूजनीय । रघुपतिपदैः = रामचन्द्रजी के चरणों (चरणन्यासों) से । मेखलासु = मध्य भाग में । अङ्कितम् = चिह्नित, निशानोंवाले । तुङ्गम् = ऊंचे । प्रियसखम् = (अपने) प्यारे मित्र । अमुम् = इस । शैलम् = पर्वत (रामगिरि को ।

आलिङ्ग्य = गले लगाकर। आपृच्छस्व = जाने की आज्ञा लो, विदा लो। काले काले = प्रत्येक (वर्षा) काल में। संयोगम् = सम्पर्क (मेल) को। एत्य = पाकर। चिरविरहजं = देर के विरह से पैदा हुए। उष्णम् = गरम। बाष्पम् = आँसू। मुञ्चतः = छोड़ते हुए, बहाते हुए। स्नेह-व्यक्तिः = प्रेम का आविर्भाव॥ १२॥

भाषानुवादः—लोगों के आराधन-योग्य रामचन्द्रजी के चरणों (चरण-न्यासों) से मध्य-भाग में चिह्नित हुए, ऊंचे इस (अपने) प्रिय मित्र पर्वत (रामगिरि) को आलिङ्गन करके (इससे) जाने की आज्ञा लो, जिसका कि प्रत्येक (वर्षा) काल में तुमसे भेंट होकर देर के विरह से उत्पन्न गर्म अश्रु-जल को बहाते हुए (तुम्हारे लिये) प्रेम-प्रकाशन होता रहता है॥ १२॥

व्याकरणम्—रघुपतिपदैः = रघूणां पतिः (ष० तत्पु०) तस्य पदानि तैः अनुक्ते कर्तरि तृतीया। रघुपति के रूप हरि शब्द के रूप के समान होंगे। समास के अन्त में पति शब्द आने से उसके रूप 'पतिः समास एव घिसंज्ञः' इस नियम से हरिवत् होते हैं। आपृच्छस्व = आ+√प्रच्छ् (पूछना) (तुदा० प०) लोट् म० पु० एक०। 'आ' उपसर्ग के योग में यह धातु 'आङि नु प्रच्छयोः' से आत्मनेपदी हो जाता है। भास ने स्व० वास० I में 'आपृच्छामि भवन्तौ' परस्मैपद का प्रयोग नियम-विरुद्ध किया है। प्रियसखम् = प्रिय-श्चासौ सखा च (कर्म धा०) तम्। "राजाहः सखिभ्यष्टच्" इससे यह 'टच्' प्रत्ययान्त समास हुआ। इसके रूप 'सखि' के समान न होकर 'राम' की तरह होंगे। आलिङ्ग्य = आ+√लिङ्ग् (जाना) (भ्वा० प०)+य (ल्यप्)। वन्द्यैः = √वन्द (भ्वा० आ०)+य (कृत्यप्र०) तृ० बहु०। काले काले = वीप्सायां द्विरुक्तिः। एत्य = √इ, (जाना) (अदा० प०)+य (ल्यप्)। चिरविरहजम् = चिरविरहात् जातः चि विरहजः तम्। मुञ्चतः = √मुच् (छोड़ना) (तुदा० प०)+अत्, ष० एक०। स्नेहव्यक्तिः =

√स्निह्, (दिवा० प०) घञ् भावे स्नेहः। स्नेहस्य व्यक्तिः (वि+√अञ्च्+क्तिन्, भावे), ष० तत्पु० ॥ १२ ॥

विशेष:—आपृच्छस्व = क्षीर स्वामी (अमरकोश III. २. ७) अपनी टीका में कहते हैं :—आपृच्छनम् = आङ् पूर्वः प्रच्छिरालिङ्गनादिनानन्दनार्थः, यथा—आपृच्छस्व प्रियसखममुम्। एवं √प्रच्छ् का 'आ' उपसर्ग के साथ गले लगकर प्रसन्न होना, आदर करना, जाने की आज्ञा लेना, विदा लेना अर्थ है।

भवतो यस्य संयोगमेत्य = सुमति—विजय ने 'यस्य' को 'संयोगं' के साथ तथा 'भवतः को 'स्नेहव्यक्तिः' के साथ मिलाया है, जिसका यह अर्थ हुआ 'जिस (पर्वत) को मिलकर तुम्हारा......प्रेम प्रकाशन होता रहता है।' परन्तु मल्लि० द्वारा किया गया अर्थ ही अच्छा है, क्योंकि ग्रीष्म से तपे हुए पर्वतों से ही प्रथम वर्षा में गर्म जल टपकता है न कि मेघ से। अतएव 'चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्' इस स्थान पर वल्लभ कहता है— 'पर्वता हि जलवृष्ट्या स्निग्धा भवन्ति बाष्पं च मुञ्चन्ति' ॥ १२ ॥

संप्रति तस्य मार्गं कथयति—

मार्गं तावच्छृणु[1] कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं[2]
संदेशं मे तदनु जलद! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्[3]।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य[4] ॥१३॥

अन्वयः—(हे) जलद! तावत् कथयतः (मत्तः) त्वत्प्रयाणानुरूपं मार्गं शृणु, यत्र खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य, क्षीणः क्षीणः स्रोतसां परिलघु पयः उपभुज्य च गन्तासि; तदनु श्रोत्रपेयं मे सन्देशं श्रोष्यसि ॥ १३ ॥

१—मत्तः शृणु, का० पा०। २—अनुकूलम्। ३—श्रव्यबन्धम् का० पा०। ४—चोपयुज्य का० पा० आदि।

(सं०) मार्गमिति। हे जलद ! तावदिदानीं कथयतः। मत्त इति शेषः। त्वत्प्रयाणस्यानुरूपमनुकूलं मार्गमध्वानम्। "मार्गो मृगमदे मासि सौम्यर्क्षेऽन्वेषणेऽध्वनि" इति यादवः। शृणु। तदनु मार्गश्रवणानन्तरं श्रोत्राभ्यां पेयं पानार्हम्। अतितृष्णया श्रोतव्यमित्यर्थः। 'पेय'ग्रहणात्संदेशस्यामृतसाम्यं गम्यते। मे संदेशं वाचिकम्। "संदेशवाग्वाचिकं स्यात्" इत्यमरः। श्रोष्यसि। यत्र मार्गे खिन्नः खिन्नोऽभीक्ष्णं क्षीणबलः सन्। "नित्यवीप्सयोः" (८।१।४) इति नित्यार्थे द्विर्भावः। शिखरिषु पर्वतेषु पदं न्यस्य निक्षिप्य। पुनर्बललाभार्थं क्वचिद्विश्रम्येत्यर्थः। क्षीणः क्षीणोऽभीक्ष्णं कृशाङ्गः सन्। अत्रापि कृदन्तत्वात्पूर्ववद्द्विरुक्तिः। स्रोतसां परिलघु गुरुत्वदोषरहितम्। उपलास्फालनखेदितत्वात्पथ्यमित्यर्थः। तथा च वाग्भटः (अष्टाङ्ग० १।५।९-१०)—"उपलास्फालनक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः। हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्या नद्यो भवन्त्यमूः।" इति। पयः पानीयमुपभुज्य शरीरपोषणार्थमभ्यवहृत्य च गन्तासि गमिष्यसि। गमेर्लुट्॥१३॥

पदार्थः—तावत् = अब, पहले। त्वत्प्रयाणानुरूपम् = तुम्हारी यात्रा के अनुकूल। यत्र = मार्ग में। खिन्नः खिन्नः = बहुत थका हुआ। शिखरिषु = पर्वतों पर। पदं न्यस्य = पैरों को रख कर [विश्राम करके]। क्षीणः क्षीणः = बहुत दुर्बल हुआ। स्रोतसाम् = नदियों का। परिलघु = हल्का। पयः = जल। उपभुज्य = उपभोग करके, पी करके। गन्तासि = जायगा। तदनु = फिर [मार्ग सुनने के बाद]। श्रोत्रपेयम् = कानों द्वारा पीए जाने योग्य अर्थात् अतितृष्णा से सुनने योग्य। सन्देशम् श्रोष्यसि = सन्देश सुनेगा॥१३॥

भावानुवादः—हे मेघ पहले [मुझसे] अपनी यात्रा के अनुकूल मार्ग सुन ले, जो कि मैं कहता हूं और जिसमें बहुत थका हुआ [तू] पर्वतों पर विश्राम करके एवं बहुत दुर्बल हुआ नदियों के हल्के जल का उपभोग करके जायगा; तब कानों को प्रिय लगनेवाले मेरे सन्देश को सुनेगा॥१३॥

व्याकरणम्—जलद = जलं ददातीति जलदः। जलम्+√दा [जु० उ० प०]

+क सम्बो० जलद ! कथयतः = √कथ् [कहना] [चुरा० उभ०]+अत्, ष० एक० । त्वत्-प्रयाणानुरूपम् = तव प्रयाणं तस्य अनुरूपः तम् [ष० तत्पु०] प्रयाणम् प्र+√या [अ० प० प०] अन [ल्युट्] रूपस्य सदृशो योग्यो वा अनुरूपस्तम् । शृणु = √श्रु [सुनना][भ्वा० प०], लोट् म०पु० एक० । खिन्नः खिन्नः = "नित्यवीप्सयोः" इति नित्यार्थे द्विर्भावः । खिन्नः √खिद् [दुःखी होना], [तुदा० प०], +न (क्त) शिखरिषु = शिखरिन् का स० बहु० । न्यस्य = नि+√अस् [फेंकना] [दिवा०प०]+य (ल्यप)। क्षीणः क्षीणः = यहां भी कृदन्त होने से पहले के समान द्विरुक्ति है । क्षीणः√क्षै (नाशहोना) [भ्वा० प०]+न (क्त) । गन्तासि = √गम् (जाना) [भ्वा० प०], लुट, म० पु० एक । श्रोत्रपेयम = श्रोत्राभ्यां पेयं, श्रूयते अनेन इति√श्रु+ष्ट्रन्—श्रोत्रम् । (त० तत्पु०) । पेयम् = √पा (पीना) भ्वा०प०+य (कृत्यप्र० कर्मणि) श्रोष्यसि = √श्रु [भ्वा० प०], लृट्, म० पु० ए० । परिलघु = परि अतिशयेन लघु प्रादि तत्पु०, पयः का विशे० । स्रोतसाम् = स्रोतस् (नपु०) का ष० बहु० । उपभुज्य = उप+√भुज् (खाना) [रुधा० उभ०]+य (ल्यप्) । तदनु=तत्+अनु । यहां 'अनुर्लक्षणे' इस सूत्र से कर्म प्रवचनीय है । फिर अनु के योग में "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" से तत् में द्वितीया हुई ॥१३॥

विशेष:—मार्ग तावत् का पाठान्तर 'मार्गं मत्तः' है 'मत्तः' का अर्थ 'मुझ से' है ।

श्रोत्रपेयम् = इसका पाठान्तर 'श्रव्यबन्धम्' है जिसका अर्थ 'जिस (सन्देश) का शब्द विन्यास (कानों को) तृप्त करनेवाला है । इस पाठार्थ का 'श्रोत्रपेयम्' वाले पाठार्थ से विशेष भेद नहीं है ॥१२॥

'उपभुज्य' = का पाठान्तर 'उपयुज्य' है जो कि अर्थ में समान ही है ।

परिलघुपयः = मल्लि० ने परिलघु का अर्थ 'गुरुत्वदोषरहितम्' किया है । परि अतिशय का बोधक है । पहाड़ी नदियों का पानी पत्थरों के टकराने के

कारण बहुत हल्का हो जाता है और हल्का पानी स्वास्थ्य के लिए बड़ा अच्छा कहा गया है। देखिए—वाग्भट "उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः। हिमवन्मलयोदभूताः पथ्या नद्यो भवन्त्यमूः" ॥१३॥

अद्रेः शृङ्गं हरति[1] पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्[3] ॥१४॥

अन्वयः—पवनः अद्रेः शृङ्गम् हरति किंस्वित् इति उन्मुखीभिः मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः चकित-चकितम् दृष्टोत्साहः [त्वम्] सरसनिचुलात् अस्मात् स्थानात् पथि दिङ्नागानाम् स्थूलहस्तावलेपान् परिहरन् उदङ्मुखः [सन्] खम् उत्पत ॥१४॥

(सं०) अद्रेरिति। पवनो वायुरद्रेश्चित्रकूटस्य शृङ्गं हरति किंस्वित्? किंस्विच्छब्दो विकल्पवितर्कार्थादिषु पठितः। इति शङ्कयोन्मुखीभिरुन्नतमुखीभिः। "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" (४।१।५४) इति ङीप्। मुग्धाभिर्मूढाभिः। "मुग्धः सुन्दरमूढयोः" इत्यमरः। सिद्धानां देवयोनिविशेषाणामङ्गनाभिश्चकितचकितं चकितप्रकारं यथा तथा। "प्रकारे गुणवचनस्य" (८।१।१२) इति द्विर्भावः। दृष्टोत्साहो दृष्टोद्योगः सन्। सरसा आर्द्रा निचुलाः स्थलवेतसा यस्मिंस्तस्मात्। "वानीरे कविभेदे स्यान्निचुलः स्थलवेतसे" इति शब्दार्णवे। अस्मात्स्थानादाश्रमात् पथि नभोमार्गे दिङ्नागानां दिग्गजानां स्थूला ये हस्ताः करास्तेषामवलेपानाक्षेपान् परिहरन्। "हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि" इति। "अवलेपस्तु गर्वे स्यात्क्षेपणे दूषणेऽपि च" इति च विश्वः। उदङ्मुखः सन्। अलकाया उदीच्यत्वादित्याशयः। खमाकाशमुत्पतोद्गच्छ। अत्रेदमप्यर्था-

---

१—वहति वल्ल०। २—दृष्टोच्छ्रायः वल्ल०, वि०। ३—अवलेहान्।

न्तरं ध्वनयति—रसिको निचुलो नाम महाकविः कालिदासस्य सहाध्यायी परापादितानां कालिदासप्रबन्धदूषणानां परिहर्ता यस्मिन्स्थाने तस्मात्स्थानादुदङ्मुखो निर्दोषत्वादुन्नतमुखः सन्पथि सारस्वतमार्गे। दिङ्नागानाम्। पूजायां बहुवचनम्। दिङ्नागाचार्यस्य कालिदासप्रतिपक्षस्य हस्तावलेपान् हस्तविन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन्। "अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च" इति विश्वः। अद्रेरद्रिकल्पस्य दिङ्नागाचार्यस्य शृङ्गं प्राधान्यम्। "शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च" इत्यमरः। हरति किंस्विदिति हेतुना सिद्धैः सारस्वतसिद्धैर्महाकविभिरङ्गनाभिश्च दृष्टोत्साहः सन् खमुत्पतोच्चैर्भवेति स्वप्रबन्धमात्मानं वा प्रति कवेरुक्तिरिति। 'संसर्गतो दोषगुणा भवन्तीत्येतन्मृषा येन जलाशयेऽपि। स्थित्वानुकूलं निचुलश्चलन्तमात्मानमारक्षति सिन्धुवेगात्।" इत्येतच्छ्लोकनिर्माणात्तस्य कवे'निचुल' संज्ञेत्याहुः ॥ १४ ॥

पदार्थः—अद्रेः = पहाड़ की। शृङ्गम् = चोटी को। हरति = ले जाता है। किंस्वित् = क्या? उन्मुखीभिः = ऊँचे मुख किए हुए। मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः = भोली भाली सिद्धों की स्त्रियों के द्वारा। चकित-चकितम् = बहुत आश्चर्य से। दृष्टोत्साहः = देखे गए उत्साहवाला। सरसनिचुलात् = गीली स्थल की बेलों से युक्त। पथि = मार्ग में। दिङ्नागानाम् = दिशाओं के हाथियों के। स्थूलहस्तावलेपान् = बड़ी-बड़ी सूंड़ों के प्रहारों को। परिहरन् = छोड़ता हुआ (उनसे) बचता हुआ। उदङ्मुखः = उत्तर की ओर मुख किये हुए। खम् = आकाश को। उत्पत = उड़ जाना ॥१४॥

भाषानुवादः—क्या पवन पर्वत की चोटी को [उड़ाए] ले जा रहा है? इस [विचार] से ऊपर मुंह किये हुए भोली-भाली सिद्धों की स्त्रियां बड़े आश्चर्य से तेरा उत्साह देखेंगी। तू गीली निचुलों [स्थल की बेलों] वाले इस स्थान से दिग्-गजों [दिशाओं के हाथियों] के बड़ी-बड़ी सूंड़ों के प्रहारों से बचता हुआ उत्तर दिशा की ओर मुख किये हुए आकाश में उड़ जाना ॥१४॥

व्याकरणम्—अद्रेः = अद्रिका ष० एक०। हरति = √हृ [ले जाना] (भ्वा० उभ०), लट्, प्र० पु० एक०। किंस्वित् = [अव्यय] किंस्विच्छब्दो वितर्केऽर्थे। उन्मुखीभिः = उद् = ऊर्ध्वं+मुखं यासां ताः ताभिः (बहुव्री०)। मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः = मुग्धाभिः सिद्धानामङ्गनाभिः [ष० तत्पु०]। दृष्टोत्साहः = दृष्ट उत्साहो यस्य सः [ब० व्री०]। दृष्ट=√दृश् [देखना] [भ्वा० प०]+क्त। उत्साहः = उत्+√सह्+घञ् भावे। चकित चकितम् = "प्रकारे गुणवचनस्य" इति प्रकारार्थे द्विर्भावः। सरसनिचुलात् = सरसाः निचुलाः अस्मिन् [ब० व्री०]। स्थानात् का विशे०। दिङ्नागानाम् = दिशां नागाः [हस्तिनः] तेषाम् [ष० त०] स्थूलहस्तावलेपान् = स्थूला ये हस्ताः तेषाम् अवलेपान्। परिहरन् = परि+√हृ [ले जाना] (भ्वा० उभ०),+अत्, प्र० एक०। उदङ्मुखः = उदङ्, उत्+√अञ्चु [जाना], [भ्वा० प०] क्विन्। उदङ् मुखं यस्य सः। उत्पत = उत्+√पत् [गिरना] (भ्वा० प०), लोट्, म० पु० एक० ॥१४॥

विशेषः—मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में कालिदास श्लेष द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वी दिङ्नागाचार्य के प्रति संकेत करता हुआ अपनी काव्यकला को सम्बोधित करके कहता है, यह व्यङ्ग्यार्थ है ॥१४॥

पदार्थः—पवनः = वायु जैसी तीव्रगति। अद्रेः = पहाड़ जैसे ऊंची कोटि के विद्वान् [दिङ्नाग] की। शृङ्गम् = शृङ्गसी ऊँची प्रतिभा को। हरति किंस्वित् ? = हर लेती है, पछाड़ देती है क्या ? उन्मुखीभिः = अचम्भित हो ऊपर मुंह किये हुए। मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः = प्रसन्न हुए सिद्ध [निपुण] कवियों तथा स्त्रियों द्वारा। दृष्टोत्साहः = देखे गये उत्साहवाला। सरस-निचुलात् = जहाँ रसिक निचुल [इस नामवाला तुम्हारा प्रशंसक] रहता है। दिङ्नागा-नाम् = दिङ्नागाचार्यजी के [आदर—अर्थ में बहुवचन] स्थूलहस्तावलेपान् = हाथ से निर्देश किये गये मोटे २ दोषों को। परिहरन् = छोड़ते हुए। खम् = कल्पना के आकाश में, कल्पनालोक में। उत्पत = चढ़ जाओ, उड़ जाओ ॥१४॥

भाषानुवादः—'[हे मेरी कविते !] तेरी तीव्र गति उच्चकोटि के विद्वान् दिङ्नागाचार्य की ऊंची प्रतिभा को [भी] पछाड़ गई है क्या ? इस अचम्भे में मुंह बाए प्रसन्न हुए सिद्ध कवि लोग एवं [उनकी] पत्नियां तेरे उत्साह को देखेंगी। तू इस स्थान से—जहाँ तेरा प्रशंसक सहृदय निचुल रहता है, दिङ्नागाचार्य द्वारा हस्त-निर्देश पूर्वक बताए गए [अपने] मोटे-मोटे दोषों को त्यागती हुई खड़े-मस्तक हो कल्पनालोक में उड़ जा ॥१४॥'

व्याकरणम्—[उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ का मुग्ध-सिद्धाङ्गनाभिः = मुग्धाः [प्रसन्नाः] ये सिद्धाः [सिद्धकवयः] अङ्गनाश्च ताभिः। स्थूलहस्तावलेपान् = स्थूला ये हस्तनिर्दिष्टा अवलेपाः [मध्यमपदलोपी समास] तान्। अवलेपाः दोषाः ['अवलेपस्तु गर्वः स्याल्लेपनं दूषणेऽपि च'–इति विश्वः]।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि निचुल के विषय में, जिसे कालिदास का सहाध्यायी कहा गया है, हमें मल्लिनाथ के कथन के अतिरिक्त और कुछ परिचय प्राप्त नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार उसका नाम 'निचुल' इस लिए पड़ा कि उसने निचुल [स्थल-बेंत] पर यह कविता रची थी— 'संसर्गतो दोषगुणा भवन्तीत्येतन्मृषा येन जलाशयेऽपि। स्थित्वाऽनुकूलं निचुलश्चलन्तमात्मानमारक्षति सिन्धुवेगात्'। दिङ्नागाचार्य प्रसिद्ध बौद्ध लेखक था। इसने 'प्रमाण-समुच्चय' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इस पुस्तक पर धर्मकीर्ति ने, जो एक अन्य बौद्ध लेखक है, वार्तिक लिखे हैं। कुमारिल ने इन दोनों लेखकों की समालोचना की है। दिङ्नाग के कालिदास का समकालीन होने का प्रमाण दक्षिणावर्त नाथ से, जो कि मल्लिनाथ से पहले का टीकाकार है—विदित होता है; परन्तु यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि यहाँ किस दिङ्नाग से अभिप्राय है, क्योंकि साहित्य जगत् में इस नाम के कई कवि हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान् दिङ्नाग को कालिदास का समकालीन नहीं मानते। इस सम्बन्ध में प्रो० मैकडोनल [Mac. Donell] का यह

कथन है—'यह विचार अत्यधिक सन्देहास्पद है। फिर यह भी तो अनिश्चित है कि मल्लिनाथ का बौद्ध आचार्य दिङ्नाग से ही अभिप्राय है। तीसरे–बौद्ध-मतानुसार यह कहना कि दिङ्नाग वसुबन्धु का शिष्य था इस बात पर कुछ महत्त्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह कथन सोलहवीं शताब्दी तक निर्धारित नहीं किया जा सका। चौथे—वसुबन्धु छठी शताब्दी में हुआ—इस बात की पुष्टि विशेषतः विक्रमादित्यवाले सिद्धान्त पर आधारित है और यह चीन वालों के इस प्रमाण के विरुद्ध है कि वसुबन्धु की कृतियों का चीनी भाषा में ४०४ ई० में अनुवाद किया गया।' इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित नहीं कि स्वयं कालिदास को मल्लिनाथ द्वारा दिया गया अर्थ विवक्षित है। फिर यदि 'स्थूलहस्तावलेपान्' का अर्थ "हस्त संकेत द्वारा दर्शाए गए प्रधान-प्रधान दोषों को" मान भी लिया जाय। तो भी 'दिङ्नागानाम्' में प्रयुक्त बहुवचन सर्वथा अनुपपन्न प्रतीत होता है, क्योंकि दिङ्नाग जो कि कवि का कविता–क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्वी था और जिसने कालिदास के 'स्थूलहस्तावलेपान्' बताये हैं, उसके प्रति आदर भाव दिखाना संभव प्रतीत नहीं होता। श्री शारदारञ्जन राय के अनुसार 'निचुल' कवि की अपनी ही उपाधि थी, जिसे उसने 'संसर्गतो'—इत्यादि ऊपर कहे श्लोक रचने पर प्राप्त किया था।

सिद्ध = √सिध (जाना) (भ्वा० प०)+त (कर्तरि)। सिद्धों में दैवी शक्ति होती है। ये देव–योनि के हैं और सूर्य्य तथा पृथ्वी के मध्य–भाग में रहते हैं। इनमें निम्न प्रकार की सिद्धियां होती हैं—'अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः'।

दिङ्नागानाम् = दश दिशाओं के अधिष्टातृ रूप हाथियों के ये नाम हैं—'ऐरावतः पुंडरीको वामनः कुमुदोंजनः, पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः।' अमर० I १। उत्तर दिशा का अधिष्ठाता एक ही गज है, तो यहां 'दिङ्नागानाम्' इस बहुवचन के समर्थन में सारोद्धारिणी का कथन है–बहुत्वमेवात्र विव-

क्षितं यदम्बुदं प्रति यक्षशिक्षेयम् । दिगन्तराणि परिहृत्य त्वयोत्तरैव हरित् तूर्णं गन्तव्येति भावः ।

अद्रेः—इससे निःसन्देह रामगिरिपर्वत अभिप्रेत है न कि 'चित्रकूट' जैसा मल्लिनाथ का विचार है । देखिए श्लोक संख्या १ का 'विशेष' भाग ।

स्थूलहस्तावलेपात् = सुमति विजय ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—'पुष्टशुंडादण्डस्पर्शात्' सारोद्धारिणी के अनुसार 'पीवरकराघातात्' है ।

दृष्टोत्साहः = इसका पाठान्तर 'दृष्टोच्छ्रायः' (दृष्ट उच्छ्राय उन्नतिर्यस्य) भी अच्छा प्रतीत होता है, क्योंकि मेघ ऊँचाई के कारण ऊपर मुख किए हुए सिद्धों की स्त्रियों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित करता है ॥ १४ ॥

रत्नच्छाया[1]व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते[2] ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १५ ॥

अन्वयः—रत्न-च्छाया-व्यतिकर इव प्रेक्ष्यम् आखण्डलस्य एतत् धनुः-खण्डम् पुरस्तात् वल्मीकाग्रात् प्रभवति, येन (धनुःखण्डेन) ते श्यामम् वपुः स्फुरित-रुचिना बर्हेण गोपवेषस्य विष्णोः (श्यामम् वपुः) इव अतितराम् कान्तिम् आपत्स्यते ॥१५॥

(सं०)रत्नेति । रत्नच्छायाणां पद्मरागादिमणिप्रभाणां व्यतिकरो मिश्रणमिव-प्रेक्ष्यं दर्शनीयमाखण्डलस्येन्द्रस्यैतद्धनुःखण्डम् । एतदिति हस्तेन निर्देशो विवक्षितः पुरस्तादग्रे वल्मीकाग्राद्वामलूरविवरात् । "वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्" इत्यमरः । प्रभवत्याविर्भवति । येन धनुः खण्डेन ते तव श्यामं वपुः । स्फुरितरुचिनोज्ज्वलकान्तिना बर्हेण पिच्छेन । "पिच्छबर्हे नपुंसके" इत्यमरः ।

१—रत्नच्छाय०, का० पा० । २—आलप्स्यते, वि० ।

गोपवेषस्य विष्णोर्गोपालस्य कृष्णस्य श्यामं वपुरिव । अतितरां कान्ति शोभामापत्स्यते प्राप्स्यते ।। १५ ।।

पदार्थः—रत्नच्छायाव्यतिकर इव = रत्नों की कान्तियों का सम्मिश्रण जैसा । प्रेक्ष्यम् = दिखाई देनेवाला । पुरस्तात् = सामने । वल्मीकाग्रात् = बांबी (दीमकों की पहाड़ी) के ऊपर से । आखण्डलस्य = इन्द्र का । धनुखण्डम् = धनुष का टुकड़ा । प्रभवति = प्रकट हो रहा है (निकल रहा है) । ते = तेरा । वपुः (नपुं०, प्र० एक०) = शरीर । स्फुरित-रुचिना = चमकती हुई कान्तिवाले । बर्हेण = मोर के पंख से । गोपवेषस्य = गोपाल वेष धारण किए हुए । विष्णोः = कृष्ण के । अतितराम् = बहुत अधिक । कान्तिम् = शोभा को । आपत्स्यते = प्राप्त करेगा ।।१५।।

भाषानुवादः—रत्नों की कान्तियों का सम्मिश्रण जैसा दिखाई देनेवाला यह इन्द्र-धनुष का टुकड़ा सामने बाम्बी के अग्रभाग (ऊपर) से निकल रहा है, जिससे तेरी सांवली देह इस तरह अत्यधिक चमक उठेगी जिस तरह चमकीली कान्तिवाले मोर के पंखों से गोपवेषधारी विष्णु (कृष्ण) की (साँवली देह) ।।१५।।

व्याकरणम्—रत्नच्छाया० = रत्नानां छायानां व्यतिकरो मिश्रणम् । व्यतिकर = वि+अति+√कृ+अप् भावे । प्रेक्ष्यम् = प्र+√ईक्ष् [भ्वा०आ०]+य । धनुः का विशे० । आखण्डलस्य = आ समन्तात् खण्डयति पर्वतान् आखण्डलः तस्य । आ+√खण्ड् (चुरा० प०)+अल (कलच्) । पुरस्तात् = पूर्वस्यां दिशि इति अस्ताति स्वार्थे । यहां 'पूर्व' पुर में 'अस्ताति च' में बदल गया है । स्फुरितरुचिना = स्फुरिता रुचिर्यस्य (ब० व्री०) । गोपवेषस्य = गाः पाति इति गोपः, गोपस्य वेषो यस्य स तस्य (ब व्री०) । धनुःखण्डम् = इसकी जगह वल्लभ ने 'धनुष्खण्डम्' यह पाठ दिया है और इसका समर्थन पाणिनि के सूत्र "नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य" (VIII.

३. ४१), से किया है, परन्तु चन्द्रगोमिन् ने 'समासेऽनुत्तरस्य' (VI. ४. ३) इस सूत्र में 'नित्य' को छोड़ दिया है और वह 'धनुःखण्डम्' इस रूप को स्वीकार करता है। यहां पाठ मल्लि० तथा अन्य टीकाकारों ने दिया है। अतितराम् = अति + तरप् + आम् (तुलनात्मकप्रत्यय) यह शब्द 'कान्तिम्' का विशेषण है। इसे 'आपत्स्यते, का क्रिया वि० भी मान लिया जा सकता है। आपत्स्यते = आ + √पद् (दिवा० आ०), प्राप्त करना, लृट्, प्र० पु० एक० ॥१५॥

विशेषः—रत्नच्छायव्यतिकरः = यह पाठ भी उचित प्रतीत होता है। 'छाया बाहुल्ये' २।४।२२ इस सूत्र से रत्न-बाहुल्य के कारण रत्नानां छाया इति रत्नच्छायम् यह छायान्त तत्पुरुष नपुंसक बन जाता है। पुरस्तात् = सारोद्धारिणी और सुमति विजय इसकी व्याख्या 'पूर्वस्यां दिशि' इस प्रकार करते हैं। वल्मीकाग्रात् = इस पर सारोद्धारिणी टीका यों है—"इन्द्रचापं किल वल्मीकान्तर्व्यवस्थितमहानागशिरोमणिकिरणसमूहात्समुत्पद्यते।" सारो० ने वल्मीक का अर्थ 'सातपो मेघः' किया है, परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। वराहमिहिर ने इन्द्रधनुष की उत्पत्ति इस प्रकार कही है— 'सूर्यस्य विविधवर्णाः पवनेन विघट्टिताः साभ्रे वियति धनुः संस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः। केचिदनन्तकुलोरगनिश्वासोद्भूतमाहुराचार्याः।'

गोपवेषस्य—पौराणिक कथा के अनुसार विष्णु दसवें अवतार के रूप में बाल्यावस्था में गोपाल थे। इसका वर्णन हरिवंश और भागवत पुराण में आया है।

आपत्स्यते = विलसन ने इसका पाठान्तर आलप्स्यते दिया है, किन्तु उसका अर्थ 'प्राप्त करेगा' नहीं बनेगा, क्योंकि आ+लभ् का अर्थ मारना होता है, देखो अमरकोश "आलम्भ-पिञ्ज....वधा अपि" १८।११५; २ पूर्वमेघदूत ४७।

इस श्लोक में पूर्णोपमा अलंकार है ॥१५॥

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः[1]
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यःसीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय[2] एवोत्तरेण ॥ १६ ॥

अन्वयः—कृषिफलम् त्वयि आयत्तम् (इति) हेतोः भ्रूविकारानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैः जनपदवधूलोचनैः पीयमानः (सन्) मालं क्षेत्रम् सद्यः सीरोत्कषणसुरभि (यथा स्यात् तथा) आरुह्य किंचित् पश्चात् व्रज, भूयः लघुगतिः (सन्) उत्तरेण एव (व्रज) ॥१६॥

(स.) त्वयीति । कृषेर्हलकर्मणः फलं सस्यं त्वयि । अधिकरणविवक्षायां सप्तमी । आयत्तमधीनम् । "अधीनो निघ्न आयत्तः" इत्यमरः ॥ इति हेतोः प्रीत्या स्निग्धैः । अकृत्रिमप्रेमार्द्रैरित्यर्थः । भ्रूविलासानां भ्रूविकाराणामनभिज्ञैः । पामरत्वादिति शेषः । जनपदवधूनां पल्लीयोषितां लोचनैः पीयमानः सादरं वीक्ष्यमाणः सन् । मालं मालाख्यं क्षेत्रं शैलप्रायमुन्नतस्थलम् । "मालमुन्नतभूतलम्" इत्युत्पलमालायाम् । सद्यस्तत्कालमेव सीरैर्हलैरुत्कषणेन कर्षणेन सुरभि घ्राणतर्पणं यथा तथारुह्य । तत्राभिवृष्येत्यर्थः । "सुरभिर्घ्राणतर्पणः" इत्यमरः । किंचित्पश्चाल्लघुगतिस्तत्र निर्वृष्टत्वात्क्षिप्रगमनः सन् । "लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः । भूयः पुनरप्युत्तरेणैवोत्तरमार्गेणैव व्रज गच्छ । तृतीयाविधाने 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्"(वा० १४६६)इति तृतीया । यथा कश्चिद्बहुवल्लभः पतिः कुत्रचित्क्षेत्रे कलत्रे गूढं विहृत्य । "क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थानकलत्रयोः इति विश्वः । दाक्षिण्यभङ्गभयान्नीचमार्गेण निर्गत्य पुनः सर्वाध्यक्ष इव संचरति तद्वदिति ध्वनिः ॥ १६ ॥

पदार्थः—कृषिफलम् = खेती का फल (अन्न) । त्वयि = तुम पर । आयत्तम् = अवलम्बित, निर्भर है । भ्रूविकारानभिज्ञैः = भौंहों के विलास से

1–भ्रूविलासानभिज्ञैः वल्ल० । 2–किञ्चिदेवोत्तरेण वि० ।

अपरिचित, भोलीभाली चितवनवाली। प्रीतिस्निग्धैः = प्रेम से सनी हुई। जनपदवधूलोचनैः = ग्रामीण स्त्रियों की आँखों से। पीयमानः = पीया जाता हुआ, अर्थात् देखा जाता हुआ। मालम् क्षेत्रम् = मालनामक क्षेत्र (पठार) पर। सद्यः = शीघ्र ही। सीरोत्कषणसुरभि = जिससे कि हलके चलाने से सुगन्धि पैदा हो जाय उस तरह। आरुह्य = चढ़कर। किंचित् पश्चात् = कुछ पश्चिम को अथवा पीछे को। व्रज = जाना। लघुगतिः (सन्) = शीघ्र गतिवाला (होता हुआ) ॥१६॥

भाषानुवादः— खेती का फल (अन्नादिक) तुम पर निर्भर है—इस कारण भौहों के विलास से अपरिचित ग्रामीण स्त्रियों की प्रेमभरी आंखों से देखे जाते हुए (तुम) 'माल' नामक पठार पर शीघ्र ही यों चढ़कर (जिससे कि हल चलाने से सुगन्धि पैदा हो जाय), कुछ पश्चिम को जाना; फिर शीघ्र गतिवाले (होते हुए) तुम उत्तर की ओर (मुड़ जाना) ॥१६॥

व्याकरणम्—आयत्ताम् = आ+√यम् (वश में होना), [भ्वा० प०]+क्त। भ्रूविकारानभिज्ञैः = भ्रवोः विकाराणाम् अनभिज्ञैः। न अभिज्ञानि अनभिज्ञानि (लोचनानि) तैः। प्रीतिस्निग्धैः = प्रीत्या स्निग्धैः (तृ० तत्पु०)। जनपद-वधू० = जनपदस्य वधूनां लोचनैः (ष० तत्पु०)। पीयमानः = √पा (पीना), [भ्वा० प०], कर्मणि+शानच्। सद्यः = अव्यय। सीरोत्कषण० = सीरैर्हलैरुत्क-षणेन सुरभि यथास्यात्तथा; यह आरुह्य का क्रि० वि० है। वल्लभ इसे 'क्षेत्रं' का विशे० लेते है, परन्तु सारोद्धारिणी और सरस्वतीतीर्थ 'सीरो-त्कषण......क्षेत्रम्' एक पद मान कर इसे 'मालम्' की विशेषता बतलाने वाला बहुव्रीहि समास समझते हैं। इसका अर्थ इस प्रकार है—'जिस माल नाम के देश में हल चलाने से खेतों में सुगन्धि आ रही है।' यह अन्तिम अर्थ अच्छा प्रतीत होता है। किंचित्पश्चात् = 'मनाक् पश्चिमभागेन' (सरस्वती तीर्थ), 'मनाक पश्चिमभागाश्रितम्' (सारा०)। वल्लभ इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं— किंचिन्मनागारुह्य पश्चादनन्तरम्' ॥१६॥

विशेष:—भ्रूविकारानभिज्ञैः = भ्रुवोः विकाराः तेषामनभिज्ञैः। देखिए—भट्टि० II. १५ 'स्त्रीभूषणं चेष्टितमप्रगल्भं चारूण्यवक्राण्यपि वीक्षितानि ऋजूंश्च विश्वासकृतः स्वभावान्गोपाङ्गनानां मुमुदे विलोक्य'।

पीयमानः = इसका अर्थ उत्कण्ठा भरी आँखों से इस प्रकार देखना जैसे आँखों द्वारा पी लिया गया हो। देखिए— रघु० II. १९ 'पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्ति-रुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्' और देखिए–'ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यः'।

मालम् = मल्लि० और सरस्वती० इसका अर्थ 'उन्नतभूतलं' (पठार) करते हैं, परन्तु सुमति विजय इसका 'मालाख्यं देशम्' यह अर्थ लेते हैं। सम्भवतः 'मालम्' से इस नाम का विशेष जिला अभीष्ट हो। विल्सन (Wilson) 'माल' को मल्द (Malda) स्थान से जो रतनपुर के उत्तर की ओर है, मिलाते हैं।

सीरोत्कषणसुरभि = इस सम्बन्ध में देखिए मेघ० श्लोक २१ 'जग्ध्वा-ऽरण्येष्वधिकसुरभि गन्धमाघ्राय चोर्व्याः'॥१६॥

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥ १७॥

अन्वयः—आम्रकूटः सानुमान् आसार–प्रशमितवनोपप्लवम् अध्वश्रम-परिगतम् त्वाम् साधु मूर्ध्ना वक्ष्यति। क्षुद्रः अपि संश्रयाय मित्रे प्राप्ते (सति) प्रथम सुकृतापेक्षया विमुखः न भवति। यः तथा उच्चैः (सः) किम् पुनः॥१७॥

(सं.) त्वामिति। आम्राश्चूताः कूटेषु शिखरेषु यस्य स आम्रकूटो नाम सानुमा-न्पर्वतः। "आम्रश्चूतो रसालोऽसौ", "कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्" इति चामरः। आसारो धारावृष्टिः। "धारासंपात आसारः" इत्यमरः। तेन प्रशमितो वनोपप्लवो

दावाग्निर्येन तम । कृतोपकारमित्यर्थः । अध्वश्रमेण परिगतं व्याप्तं त्वां साधु सम्यङ्मूर्ध्ना वक्ष्यति वोढा । वहेर्लृट् । तथा हि—क्षुद्रः कृपणोऽपि । "क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे नृशंसे" इति यादवः । संश्रयाय संश्रयणाय मित्रे सुहृदि । "अथ मित्र सखा सुहृत्" इत्यमरः । आगते सति । प्रथमसुकृतापेक्षया पूर्वोपकारपर्यालोचनया विमुखो न भवति यस्तथा तेन प्रकारेणोच्चैरुन्नतः स आम्रकूटः किं पुनर्विमुखो न भवतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । एतेन प्रथमावसथे सौख्यलाभात्ते कार्यसिद्धिरस्तीति सूचितम् । तदुक्तं निमित्तनिदाने—"प्रथमावसथे यस्य सौख्यं तस्याखिलेऽध्वनि । शिवं भवति यात्रायामन्यथा त्वशुभं ध्रुवम् ॥" इति ॥१७॥

पदार्थः—आम्रकूटः = आम्रकूट नामवाला । सानुमान् = पर्वत । आसारप्रशमित० = वर्षा की धाराओं से वन की अग्नि को शान्त करनेवाले । अध्वश्रमपरिगतम् = मार्ग के श्रम से व्याप्त (थके हुए) । साधु = अच्छी प्रकार । मूर्ध्ना = चोटी पर । वक्ष्यति = उठाएगा । क्षुद्रः अपि = नीच भी । संश्रयाय = शरण के लिए । प्राप्ते (सति) = आने पर । प्रथमसुकृतापेक्षया = पहले के किए गए उपकारों का विचार करके । विमुखो न भवति = विमुख (प्रतिकूल, नहीं होता, मुंह नहीं मोड़ता । तथोच्चैः = इस प्रकार से उन्नत (ऊंचे) का । किम् पुनः = फिर क्या (कहना) ॥१७॥

भाषानुवादः—आम्रकूट पर्वत वर्षा की धाराओं से वन की आग को शान्त कर देनेवाले, मार्ग (चलने) से थके हुए तुझे अच्छी तरह अपनी चोटी पर उठाएगा; नीच भी शरण के लिए मित्र के आने पर उसके पहले के किये गये उपकारों का विचार करके मुँह नहीं मोड़ता; फिर जो इस प्रकार ऊँचा हो उसका तो कहना ही क्या ॥ १७ ॥

व्याकरणम्—सानुमान् = सानूनि अस्य सन्तीति+मतुप् आम्रकूटः = आम्राः आम्रवृक्षाः कूटेषु शृंगेषु यस्य, अथवा आम्राणां कूटः समूहः यत्र (बहुव्री०) । आसारप्रशमित० = आसारेण (आ+√सृ+घञ्, भावे

आसारः) धारापातेन प्रशमितो वनोपप्लवो दावाग्निः येन (ब० व्री०)। ०वनोपप्लवम्—उप+√प्लु+अप् भावे उपप्लवः (उत्पातः)। देखिए—'उपप्लवाय लोकानां धूमसेतुरिवोदितः' कुमा०। अध्वश्रमपरिगतम् = अध्वनः श्रमेण मार्गस्य खेदेन परिगतं व्याप्तम्। साधु = अव्यय। मूर्ध्ना = मूर्धन् का तृ० एक०। वक्ष्यति = √वह् (उठाना, ले जाना), (भ्वा० प०,) लट् प्र० पु० एक०। संश्रयाय = संश्रय का च० एक०। सम्+√श्रि (आश्रय लेना, भ्वा० प०)+अच् भावे, तस्मै। प्राप्ते = प्र+√आप् (स्वा० प०)+क्त, स० एक०। प्रथमसुकृतापेक्षया = प्रथमानि यानि सुकृतानि प्रथमसुकृतानि तेषाम् अपेक्षा तया। उच्चैः = अव्यय है, परन्तु यहां विशेषण के समान प्रयुक्त हुआ है॥ १७॥

विशेषः—आम्रकूटः = विलसन (Wilson) ने इसे अमरकण्टक माना है। आम्रकूट नाम इसलिए पड़ा कि इसके पास के जंगलों में आम के वृक्ष बहुलता से पाये जाते हैं। यह पर्वत नर्मदा नदी का उद्गम-स्थान और विन्ध्याचल का पूर्वी भाग है। इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार है क्योंकि इसमें पूर्वार्ध के विशेषार्थ का उत्तरार्ध के सामान्यार्थ से समर्थन किया गया है। कुछ प्रतियों में इस श्लोक के अनन्तर निम्नलिखित श्लोक भी मिलता है—

'अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूट-
स्तुङ्गेन त्वां जलद! शिरसा वक्ष्यति श्लाघमानः।
आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्निं
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥१७-(क)॥

अन्वयः—हे जलद! आम्रकूटः सानुमान् अध्वक्लान्तम् प्रतिमुखगतम् त्वां

१—इस श्लोक पर मल्लिनाथ की टीका नहीं है।

श्लाघमानः शिरसा वक्ष्यति, त्वम् अपि आसारेण तस्य नैदाघम् अग्निम् शमयेः। महत्सु सद्भावार्द्रः उपकारः न चिरेण फलति।

भाषानुवाद:—हे मेघ ! आम्रकूट पर्वत रास्ते के थके-माँदे सामने आए तुझे सराहते हुए शिर से धारण करेगा। तू भी वर्षा की धाराओं से उसकी ग्रीष्म से पैदा हुई आग (दावाग्नि) को बुझाना ; महापुरुषों के प्रति सद्भाव-पूर्ण उपकार शीघ्र ही फल देता है।

विशेष:—हम इस श्लोक के अर्थ में "त्वामासार..............." इस श्लोक के अर्थ से कोई नवीनता नहीं पाते, इसलिए इसे मौलिक न समझ कर 'प्रक्षिप्त' ही समझना चाहिए ॥ १७-क ॥

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
[1]मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१८॥

अन्वयः—(हे मेघ!) स्निग्ध-वेणी-सवर्णे त्वयि शिखरम् आरूढे (सति) परिणत-फल-द्योतिभिः काननाम्रैः छन्नोपान्तः अचलः मध्ये श्यामः शेषविस्तार-पाण्डुः भुवः स्तनः इव अमर-मिथुन-प्रेक्षणीयाम् अवस्थाम् नूनम् यास्यति ॥१८॥

(सं) छन्नेति। हे मेघ ! परिणतैः परिपक्वैः फलैर्द्योतन्त इति तथोक्तैः। आषाढे वनचूताः फलन्ति पच्यन्ते च मेघवातेनेत्याशयः। काननाम्रैर्वन-चूतैश्छन्नोपान्त आवृतपार्श्वोऽचल आम्रकूटाद्रिः स्निग्धवेणीसवर्णे मसृणकेशबन्धच्छाये। श्यामवर्णे इत्यर्थः। "वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ" इति यादवः। त्वयि शिखरं शृङ्गमारूढे सति। "यस्य च भावेन भाव-लक्षणम्" (२।३।३७) इति सप्तमी। मध्ये श्यामः शेषे मध्यादन्यत्र

१—मेघश्याम।

विस्तारे परितः पाण्डुर्हरिणः। "हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः" इत्यमरः। भुवः स्तन इव। अमरमिथुनानाम्। खेचराणामिति भावः। प्रेक्षणीयां दर्शनीयामवस्थां नूनं यास्यति 'मिथुन'ग्रहणं कामिनामेव स्तनत्वेनोत्प्रेक्षा संभवतीति कृतम्। यथा परिश्रान्तः कश्चित्कामी कामिनीनां कुचकलशे विश्रान्तः सन्स्वपिति तद्वद्भवानपि भुवो नायिकायाः स्तन इति ध्वनिः ॥१८॥

पदार्थः—परिणतफलद्योतिभिः = पके हुए फलों से चमकनेवाले। काननाम्रैः = जंगल के आमों से। छन्नोपान्तः = ढके हुए पार्श्व भागोंवाला। अचलः (आम्रकूट) पर्वत। स्निग्धवेणीसवर्णे = तेलवाली वेणी (केशपाश, बालों की चोटी) से मिलते हुए रंगवाले। भुवः स्तन इव = पृथ्वी के स्तन के समान। शेष-विस्तार-पाण्डुः = जिसका बाकी का विस्तार (विस्तृतभाग) पीला-सा है। अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम् = गगनचारी–दम्पतियों (जोड़ों) के द्वारा दर्शनीय। अवस्थाम् = दशा को। नूनम् = निश्चय से। यास्यति = प्राप्त होगा ॥१८॥

भाषानुवादः—(हे मेघ!) तेलवाली वेणी (केशपाश, चोटी) से मिलते हुए रंगवाले तेरे (इसके) शिखर पर चढ़ने पर, पके हुए फलों से चमकनेवाले जंगली आम्रों से घिरे हुए पार्श्व–भागोंवाला (यह आम्रकूट) पर्वत गगनचारी–दम्पतियों (जोडों) को अवश्य ही यों दीखने योग्य बन जायगा जैसा कि मध्यभाग में काला और बाकी के विस्तृत भाग में पीला सा पृथ्वी का स्तन हो ॥१८॥

व्याकरणम्—स्निग्धवेणी० = स्निग्धा = तैलचिक्कणा या वेणी केशपाशः तस्याः समानः वर्णः यस्य सः, तस्मिन् (ब० व्री०)। स्निग्धः = √स्निह् (दिवा० प०)+क्त। आरूढे = आ+√रुह् (भ्वा० प०)+क्त० स० एक० (सति सप्तमी)। काननाम्रैः = काननेषु भवाः आम्राः तैः (मध्यमपदलोपी समास) परिणतफल० = परिणतैः परिपक्वैः फलैः द्योतन्ते इति। परिणत = परि+√नम् (भ्वा० प०)+क्त। छन्नोपान्तः = छन्नः आवृतः उपान्ताः पार्श्व०

भागाः यस्य सः (ब० व्री०)। छन्नः = √छद् (चु० उभ० ढकना)+क्त। शेषविस्तार० = शेषे विस्तारे पाण्डुः (सप्त० तत्पु०)। प्रेक्षणीयाम् = प्र+√ईक्ष (भ्वा० आ०), देखना+अनीय (योग्यार्थकृत्यप्रत्यये), यह शब्द 'अवस्थाम्' का विशेषण है। नूनम् = अव्यय। यास्यति = √या (अदा० प०) जाना, लृट् प्र. पु. एक. ॥१८॥

विशेष:—स्निग्धवेणी० = सारोद्धा०, सुमति–विजय तथा सरस्वती तीर्थ के अनुसार 'स्निग्ध' का अर्थ 'कान्तिमत' है। वेणी के लिये देखिये श्लो० २५,३०। स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डु–देखिए रघु० V 'स (रघुः) निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ। स्तनाविव दिशः तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ……अलंघयत्॥' और देखिए—शकु IV 'आताम्रहरितपाण्डुरः'। यहां उपमा अलंकार है॥

[1]स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
[2]तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥ १९॥

अन्वयः—(हे मेघ!) वनचर-वधू-भुक्त-कुञ्जे तस्मिन् (आम्रकूटे) मुहूर्तं स्थित्वा तोयोत्सर्ग–द्रुततर–गतिः (सन्) तत्परम् वर्त्म तीर्णः उपल-विषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् रेवाम् गजस्य अङ्गे भक्तिच्छेदैः चिरविरचिताम् भूतिम् इव द्रक्ष्यसि॥१९॥

(सं.) स्थित्वेति। हे मेघ! वने चरन्ति ते वनचराः। "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" (६।३।१४) इति बहुलग्रहणाद् लुग्भवति। तेषां वधूभिर्भुक्ताः कुञ्जा लतागृहा यत्र तस्मिन्। "निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे" इत्य-

---

१—तस्मिन् स्थित्वा का० पा०। २—तोयोत्सर्गात् म० सिं०, सा०, स० ती०, वि०।

मरः। तत्र ते नयनविनोदोऽस्तीत्यर्थः। तस्मिन्नाम्रकूटे मुहूर्तमल्पकालम्। न तु चिरं, स्वकार्यविरोधादिति भावः। "मुहूर्तमल्पकाले स्याद्घटिकाद्वितयेऽपि च" इति शब्दार्णवे। स्थित्वा विश्रम्य। तोयोत्सर्गे "त्वामासार—" (पू.मे.१७) इत्युक्तवर्षणेन द्रुततरगतिर्लाघवाद्धेतोरतिक्षिप्रगमनः सन्। तस्मादाम्रकूटात्परं तत्परं वर्त्म मार्गं तीर्णोऽतिक्रान्तः। उपलैः पाषाणैर्विषमे विन्ध्यस्याद्रेः पादे प्रत्यन्तपर्वते। "पादाः प्रत्यन्तपर्वताः" इत्यमरः। विशीर्णां समन्ततो विसृमराम्। एतेन कस्याश्चित्कामुक्याः प्रियतमचरणपातोऽपि ध्वन्यते। रेवां नर्मदाम्। "रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका" इत्यमरः। गजस्याङ्गे शरीरे भक्तयो रचनाः। रेखाः इति यावत्। "भक्तिर्निषेवणे भागे रचनायाम्" इति शब्दार्णवे। तासां छेदैर्भङ्गिभिर्भाभिर्विरचितां भूतिं शृङ्गारमिव भसितमिव वा। "भूतिर्मातङ्गशृङ्गारे जातौ भस्मनि संपदि" इति विश्वः। द्रक्ष्यसि। अयमपि महांस्ते नयनकौतुकलाभ इति भावः॥ १९॥

पदार्थः— वनचरवधू० = वन में विचरण करनेवालों की स्त्रियों द्वारा भोगे गए निकुञ्ज (लतागृह) वाले। तस्मिन्=उस आम्रकूट पर्वत पर। मुहूर्तम्=क्षण भर, थोड़े काल तक। स्थित्वा=ठहर कर। तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः जल के छोड़ देने के कारण शीघ्र गतिवाला। तत्परम् = उस (आम्रकूट पर्वत) से परे। वर्त्म = (नपुं०) मार्ग को। तीर्णः = पार करके, लाँघकर। उपलविषमे= पत्थरों के कारण विषम (ऊंची–नीची)। विन्ध्यपादे = विन्ध्यपर्वत की तलहटी में, नीचे। विशीर्णाम = बिखरी हुई, चारों ओर फैली हुई। भक्तिच्छेदैः चित्रकारी की रेखाओं (रचनाओं) के प्रकारों से। विरचिताम् = बनाए हुए। भूतिम् = शृंगार को, सजावट को। रेवाम् = नर्मदा को। द्रक्ष्यसि = देखेगा॥

भाषानुवादः—(हे मेघ !) उस (आम्रकूट-पर्वत) पर, जहां वनचारियों की स्त्रियां कुञ्जों का आनन्द लेती हैं, कुछ देर ठहर कर, पानी के छोड़ देने

के कारण बहुत शीघ्र चलता हुआ (तू) उससे परे का मार्ग लाँघ कर नर्मदा नदी को देखेगा, जो विन्ध्याचल की पत्थरों से ऊबड़-खाबड़ तलहटी में बिखरी हुई ऐसी लगती है जैसी कि हाथी के अङ्ग (मस्तक) पर चित्रकारी की रेखाओं के (विभिन्न) प्रकारों से बनाई गई सजावट हो ॥१९॥

व्याकरणम्—वनचरवधू० = वने चरन्ति ते वनचराः (वन+√चर्+ट = वनचरः कर्त्तरि उपपदतत्पु०) 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इस सूत्र से तत्पु० में विभक्ति का अलोप प्रायिक होता है यदि बाद में कृदन्त शब्द हो। एवं लोप में वनचर और अलोप में वनेचर दोनों प्रयोग ठीक हैं। देखिए कुमार. I. 'वनेचराणां वनितासखानां दरी . . . और देखिए–किरा० I. १, 'युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः' तेषां वधूभिः भुक्ताः कुञ्जा यत्र (आम्रकूटे) मुहूर्तम् = 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से द्वितीया। तोयोत्सर्ग० = तोयस्योत्सर्गः (उत्+√सृज्+घञ् भावे) तेन द्रुततरा गतिर्यस्य सः (ब०व्री०)। तत्परम् = तस्मात् परम् सुप्सुपा इति समासः। तीर्णः = √तॄ (तरना), [भ्वा० प०]+न (क्त), प्र. पु. ए.। उपलविषमे = उपलैर्विषमे (तृ० तत्प०)। विन्ध्यपादे = विन्ध्यस्य पादे (ष० तत्पु०)। विशीर्णाम् = वि+√शॄ (क्र्या० प०), टुकड़े २ करना+न (क्त), द्वि० एकवचन। विरचिताम् = वि+√रच् (चुरा० उभ०), बनाना+क्त, स्त्री० द्वि० एक०; भूतिम् का विशेषण। द्रक्ष्यसि = √दृश् (भ्वा० प०) देखना, लृट् प्र० पु० एक० ॥१९॥

विशेषः—तत्परं वर्त्मतीर्णः = वल्लभ के अनुसार 'तस्मादनन्तरं वर्त्म मार्गमवतीर्णः' इसका अर्थ 'इसके परे मार्ग पर उतर कर' यह हुआ।

विन्ध्यपादे = सात कुल-पर्वतों में से एक पर्वत-श्रेणी का नाम 'विन्ध्य' है। कुल-पर्वतों के ये नाम हैं—'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥' विन्ध्याचल आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा है। इससे आर्यावर्त और दक्षिणावर्त (Deccan) पृथक्-पृथक् किए

गए हैं। यह पर्वत-श्रेणी समुद्र के पूर्वी तट से पश्चिमी तट तक फैली हुई है। देखिए—मनु० II. २२—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥

विशीर्णाम् = शतशः स्फुटितप्रवाहाम् (सारोद्धारिणी)। रेवाम् = यह नर्मदा नदी का दूसरा नाम है, जो कि भारत की सात पवित्र नदियों में से एक है। इसका उद्गम (निकास) आम्रकूट-पर्वत है तथा पश्चिम की ओर बहती हुई यह कम्बे की खाड़ी में जा गिरती है। सात पवित्र नदियों के लिये यह प्रार्थना श्लोक है :—"गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥"

भक्तिच्छेदैः = 'विच्छित्तिपत्रभंगैर्विरचितां विन्यस्ताम्' (सारोद्धारिणी)। देखिए—कु० स० VIII. ६९ 'भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तदन्तिनः'।

यहां उपमा अलंकार है। विभिन्न धाराओं में विभक्त हुई रेवा (नर्मदा) की उपमा हाथी के मस्तक पर बनाई हुई भिन्न भिन्न प्रकार की चित्र-रचना से की गई है ॥१९॥

तस्यास्तिक्तै[1]र्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बू[2]कुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२०॥

R.C. U. 9/ol°

अन्वयः—(त्वम्) वान्त-वृष्टिः (सन्) तिक्तैः वन-गज-मदैः वासितम् जम्बू-कुञ्ज-प्रतिहत-रयम् तस्याः (रेवायाः) तोयम् आदाय गच्छेः। हे

१—तीक्ष्णैः। २—खण्ड।

घन ! अन्तःसारम् त्वाम् अनिलः तुलयितुं न शक्ष्यति; हि रिक्तः सर्वः लघुः भवति; पूर्णता गौरवाय (भवति) ॥२०॥

(सं०) तस्या इति । हे मेघ ! वान्तवृष्टिरुद्गीर्णवर्षः सन् । कृतवमनश्च व्यज्यते । तिक्तैः सुगन्धिभिस्तिक्तरसवद्भिश्च । "तिक्तो रसे सुगन्धौ च" इति विश्वः । वनगजमदैर्वासितं सुरभितं भावितं च "हिमवद्विन्ध्य-मलया गजानां प्रभवाः" इति विन्ध्यस्य गजप्रभवत्वादिति भावः । जम्बूकुञ्जैः प्रतिहतरयं प्रतिबद्धवेगम् । सुखपेयमित्यर्थः । अनेन लघुत्वं कषायभावना च व्यज्यते । तस्या रेवायाः तोयमादाय गच्छेर्व्रज । हे घन मेघ ! अन्तः सारो बलं यस्य तं त्वामनिल आकाशवायुः, शरीरस्थश्च गम्यते । तुलयितुं न शक्ष्यति शक्तो न भविष्यति । तथा हि—रिक्तोऽन्तःसारशून्यः सर्वोऽपि लघुर्भवति । प्रकम्प्यो भवतीत्यर्थः । पूर्णता सारवत्ता गौरवाय । अप्रकम्प्यत्वाय भवतीत्यर्थः । अयमत्र ध्वनिः—आदौ वमनशोधितस्य पुंसः पश्चाच्छ्लेष्मशोषणाय लघु-तिक्त-कषायाम्बुपानाल्लब्धबलस्य वातप्रकम्पो न स्यादिति । तथाह वाग्भटः—"कषायाश्चाहिमास्तस्य विशुद्धौ श्लेष्मणो हिताः । किमु तिक्तकषाया वा ये निसर्गात्कफापहाः । कृतशुद्धेः क्रमात्पीतपेयादेः पथ्य-भोजिनः । वातादिभिर्न बाधास्यादिन्द्रियैरिव योगिनः ।" इति ॥२०॥

पदार्थः—वान्तवृष्टिः = वर्षा बरसाकर । तिक्तैः = सुगन्धित । "तिक्तो रसे सुगन्धौ च" इति विश्वः । वन-गज-मदैः = जंगली हाथियों के मद से । वासितम् = सुरभित, सुगन्धिवाले । जम्बू-कुञ्ज-प्रतिहतरयम् = जामुनों के कुञ्जों के द्वारा रोके गए वेगवाले । तोयम् = जलको । आदाय = लेकर । घन = हे मेघ, बादल । अन्तःसारम् = भीतर से सारवान्, ठोस । अनिलः = वायु । तुलयितुम् = हिलाने को । न शक्ष्यति = समर्थ न होगा । हि = क्योंकि । रिक्तः = खाली । लघु = हल्का । पूर्णता = भरा होना, भरापन, ठोसपन । गौरवाय = भारीपन (गुरुता) के लिए ॥२०॥

भाषानुवादः--(तू) पानी बरसा देने पर जंगली हाथियों के सुगन्धि-वाले मद से सुगन्धित (और) जामुनों के कुञ्जों द्वारा रोके गए वेगवाले उस (नर्मदा) के जल को लेकर जाना। हे मेघ ! भीतर से भरे हुए तुझे वायु हिला न सकेगा, क्योंकि प्रत्येक खाली वस्तु हल्की होती है (और) भरापन गुरुता के लिए (होता है) ॥२०॥

व्याकरणम्--वान्त=√वम्+क्त कर्मणि। वान्तवृष्टिः = वान्ता उगदीर्णा वृष्टिर्येन सः। तिक्तैः = तिक्त शब्द का तृ० बहु०। वनगजमदैः = वनस्य गजा वनगजास्तेषां मदैः। वासितम् = √वस्, [भ्वा० प०] (रहना) +णिच्+क्त। जम्बूकुञ्ज० = जम्बूनां कुञ्जैः प्रतिहतो (प्रति+√हन्+क्त, कर्त्तरि) रयः यस्य (ब० व्री०)। गच्छेः = √गम् (भ्वा० प०) वि. लिङ् म. पु. ए.। अन्तःसारम् = अन्तः सारो वलं यस्य तम्। तुलयितुम् = तुलां करोति इति तुला+णिच्+तुमुन्। चुरा० गण की तुल् से तुमुन् प्रत्यय लगकर तोलयितुम् रूप बनता है। शक्ष्यति = √शक्, [स्वा० प०] (समर्थ होना), लृट्, प्र० पु० ए०। रिक्तः = √रिच्, [रुधा. उभ.] (खाली करना) +क्त। प्रतिहतरयम् = प्रतिहतः रयो यस्य एवं भूत तोयम् (बहु व्री०)। रिक्तः सर्वः = यह सामान्यार्थ में पुंल्लिङ्ग 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियम के विपरीत है। गौरवाय = गुरोः भावः इति गुरु+अण् तस्मै। 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' इससे चतुर्थी ॥२०॥

विशेषः-वान्तवृष्टिः=वान्ता वृष्टिः येन [बहु०] वम् धातुका अर्थ 'उगलना' है। यहां गौणवृत्ति (Secondary sanse) लगई है। देखिए, 'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते।'

तिक्तैः = सुरभितैः "कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः"। यहां 'तिक्त' का तीखा या कसैला भी अर्थ है, क्योंकि वैद्यक शास्त्र के अनुसार पहले वमन (vomitting) करा देने के बाद श्लेष्मा (कफ) सुखाने के लिए तीखा, कसैला पानी पिलाने से मनुष्य को वात-प्रकोप नहीं होता।

देखिये—वाग्भट मल्लि० की टीका में 'कषाग्याश्च हिमास्तस्य विशुद्धौ श्लेष्मणो हिता: । किमु तिक्तकषाया वा ये निसर्गात्कफापहा: ।। कृतशुद्धेः क्रमात्पीतपेयादेः पथ्यभोजिन: । वातादिभिर्न बाधास्यादिन्द्रियैरिव योगिन: ।।'

जम्बूकुञ्ज० = जामुनों के कुञ्जों में जल के इकट्ठा होने से जल पवित्र तथा हल्का हो जाता है।

अन्तःसारम्='अन्तर्मध्ये सारं जलं यस्य' सुमति विजय। इसका दूसरा अर्थ मल्लि० ने 'इस प्रकार किया है—अन्त: सारो बलं यस्य ।

तुलयितुम्=सरस्वती० और सुमति विजय इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'अभिभवितुं पराभवं कर्तुं वा' परन्तु सारोद्धारिणी ने इसका अर्थ 'आन्दोलयितुम्' किया है।

मेघ में चिकित्सा के लिए आए हुए पुरुष का व्यवहार समारोप है, इस लिए यहां समासोक्ति अलंकार है। द्वितीय श्लोकार्ध में अर्थान्तरन्यास अलंकार है, क्योंकि इसमें तीसरे पाद के विशेषार्थ का चौथे पाद के सामान्यार्थ से समर्थन किया गया है ।।२०।।

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुला: कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
[1]दग्धारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्या:
सारङ्गास्ते [2]जललवमुच: सूचयिष्यन्ति मार्गम् ।।२१।।

अन्वयः—अर्धरूढैः केसरैः हरितकपिशम् नीपम् अनुकच्छम् आविर्भूत-प्रथममुकुला: कन्दली: च दृष्ट्वा, दग्धारण्येषु उर्व्या: अधिक-सुरभिम् गन्धम् आघ्राय च सारङ्गा: जललवमुच: ते मार्गम् सूचयिष्यन्ति ।।२१।।

(सं०) नीपमिति । सारङ्गा मतङ्गजा, कुरङ्गा भृङ्गा वा । "सारङ्गश्चातके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गजे" इति विश्व: । अर्धरूढैरेकदेशोद्गतै: केसरैः किञ्ज-

१—जग्ध्वाऽरण्येषु मल्लि० स० ती० । २—नवजलमुच: ।

र्लकैर्हरितं पालाशवर्णं कपिशं कृष्णपीतं च। "पालाशो हरितो हरित्" इति। "श्यावः स्यात्कपिशो धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते" इति चामरः। श्यामवर्णमिति यावत्। "वर्णो वर्णेन" (२।१।६९) इति समासः। नीपं स्थलकदम्बकुसुमम्। "अथ स्थलकदम्बके। नीपः स्यात्पुलके" इति शब्दार्णवे। दृष्ट्वा संप्रेक्ष्य। विदित्वेति यावत्। तथा कच्छेष्वनूपेष्वनुकच्छम्। "अव्ययं विभक्ति-" (२।१।६) इत्यादिना विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। "जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः" इत्यमरः। आविर्भूताः प्रथमाः प्रथमोत्पन्ना मुकुला यासां ताः कन्दलीर्भूमिकदलीः। "द्रोणपर्णी स्निग्धकन्दा कन्दली भूकदल्यपि" इति शब्दार्णवे। जग्ध्वा भक्षयित्वा। "अदो जग्धिः—" (२।४।३६) इति जग्ध्यादेशः। अरण्येष्वधिकसुरभिमतिघ्राणतर्पणम्। "दग्धारण्येषु" इति पाठे "दग्धम्" इत्यधिकविशेषणम्। अर्थवशात्कन्दलीश्च दृष्ट्वैवेत्यन्वयो द्रष्टव्यः। उर्व्या भूमेर्गन्धमाघ्राय जललवमुचो मेघस्य ते तव मार्गं सूचयिष्यन्त्यनुमापयिष्यन्ति। यत्र यत्र वृष्टिकार्यं कन्दलीमुकुलनीपकुसुमादिकं दृश्यते तत्र तत्र त्वया वृष्टमित्यनुमीयत इति भावः॥२१॥

पदार्थः—अर्धरूढैः=आधे निकले हुए। केसरैः=तन्तुओं से, रेशों से। हरितकपिशम्=हरे और काले-लाल (धूसर) रंगवाले। नीपम्=कदम्ब के फूल को। अनुकच्छम्=दलदल में। आविर्भूतप्रथममुकुलाः=जिनमें पहली कलियें प्रकट हुई हैं। कन्दलीः=केले जैसे पुष्प-वृक्षों को। दृष्ट्वा=देखकर। दग्धारण्येषु=जले हुए वनों में। उर्व्याः=पृथिवी की। अधिकसुरभिम्=बहुत सुगन्धित। गन्धम्=गन्ध को। आघ्राय=सूँघकर। सारंगाः=मृग। जललवमुचः=पानी की बूंदों को बरसानेवाले। ते=तेरे। मार्गम्=रास्ते को। सूचयिष्यन्ति=बतलाएंगे॥ २१॥

भाषानुवादः—आधे निकले हुए केसरों (तन्तुओं, रेशों) से हरे और धूसर रंगवाले कदम्ब पुष्प को, तथा दलदल में प्रकट हुई पहली पहली कलियोंवाली कन्दली (पुष्पविशेष) को देख कर, एवं जले हुए जगलों में

पृथ्वी की बहुत अधिक-सुगन्धित गन्ध को सूंघ कर मृग जल की बूंदें बरसाने वाले तेरा मार्ग सूचित करेंगे ॥२१॥

व्याकरणम्—अर्धरूढैः०=√रुह्, (भ्वा० प०, उगना)+क्त, तृ० बहु०। हरितकपिशम्=हरितं च तत कपिशं च, कर्मधा०। अनुकच्छम्=इसमें 'अनु' का सप्तम्यर्थ है अर्थात् कच्छेषु इति अनुकच्छम्। 'अनु' को सामीप्य अर्थ में भी लिया जा सकता है—कच्छस्य समीपे (अव्ययीभा० स०)। कं जलं छयति परिच्छिनत्ति इति कच्छः; क+√छो (अवच्छेदने, दिवा० प०)+अ। 'प्रकरणे मूल-विभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' इससे क प्रत्यय हुआ। आविर्भूत-प्रथम०=आविर्भूताः प्रथमा मुकुला यासां ताः (ब० व्री०)। दृष्ट्वा=√दृश् (भ्वा० प०)+क्त्वा। दग्धा०=दग्धानि च तानि अरण्यानि तेषु (कर्म०स०)। आघ्राय=आ+√घ्रा (भ्वा० प० सूँघना)+य (ल्यप्)। सारङ्गाः=साराणि चित्रितान्यङ्गानि गात्राणि येषां ते (हरिणाः)। जललवमुचः=जलस्य लवान् मुञ्चति इति तस्य (मेघस्य)। सूचयिष्यन्ति=√सूच् (चुरा० उभ०, बताना) सूचित करना, लृट् प्र० पु० बहु० ॥ २१ ॥

विशेषः—दग्धारण्येष्वधिक०=इसके स्थान पर मल्लि० ने 'जग्ध्वारण्ये-ष्वधिक०' यह पाठान्तर दिया है, किन्तु यह पाठ भला मालूम नहीं होता, क्योंकि इस श्लोक के दूसरे तथा तीसरे पाद में दो ही 'च' आते हैं। पहला 'च' नीपं और कन्दली को जोड़ता है और दूसरा 'च' दृष्ट्वा तथा आघ्राय को। यदि मल्लि० के अनुसार 'जग्ध्वारण्येष्व०' को उचित पाठ माना जाय, तो तीन क्त्वान्त व एक ल्यबन्त 'चारों' एक साथ ही आ जाते हैं और उनके संयोजक केवल दो 'च' ही रह जाते हैं तथा 'जग्ध्वा' का कर्म इससे काफी दूर हो जाता है और प्रथम श्लोकार्ध का एक पद द्वितीय श्लोकार्ध में पड़ जाने से "अर्धान्तरैकपदता" दोष भी आ जाता है।

सारङ्गाः=मल्लि० इस शब्द से 'हाथी' या 'हरिण' अर्थ लेता है। सुमति०

कहता है कि इससे 'भ्रमर' अर्थ भी लिया जा सकता है। सारोद्धारिणी के अनुसार इससे उपर्युक्त तीनों अर्थों के अतिरिक्त 'चातक' पक्षी भी अर्थ है। वल्लभ इससे 'मोरों' का अर्थ लेता है, परन्तु अपने पक्ष की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं देता। सरस्वतीतीर्थ कहता है कि इस श्लोक में 'सारङ्गा' शब्द से 'हरिण' ही लिए जा सकते हैं। केवल यही एक अर्थ ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि कालिदास 'सारङ्ग' शब्द का सामान्यतः 'हरिण' के अर्थ में प्रयोग करता है। देखिए—अभि० शाकु० I. ५ 'एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा'। विक्रमोर्वशीय के IV अङ्क में भी देखिए—'इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तिनिमित्तं सारङ्गमासीनमभ्यर्थये'। 'चातक' के अर्थ में भी कालिदास 'सारङ्ग' का प्रयोग करता है, परन्तु बहुत कम। देखिए—रघु० XVII. १५ 'प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः'। पाणिनि के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—(सार+अङ्ग=सारङ्ग)। यह बहु व्री० समास है। टीकाकारों ने इसके हाथी, भ्रमर, चातक अर्थ लेकर सारं सलीलं गच्छति (हाथी); सारं मधुरं गायति (भ्रमर, चातक, मोर,) इस तरह 'सारङ्ग' शब्द की व्युत्पत्ति की है, जो व्याकरण की दृष्टि से काल्पनिक ही है।

सूचयिष्यन्ति=अनुमापयिष्यन्ति। किस-किस मार्ग से पानी बरसाता हुआ बादल गया है—इस बात का अनुमान वर्षा के नीप और कन्दली के खिलने आदि कार्य से ही किया जा सकता है ॥ २१ ॥

कुछ टीकाकारों ने 'नीपं दृष्ट्वा' इस श्लोक के अनन्तर निम्नलिखित श्लोक भी दिया है, पर वह प्रसिद्ध नहीं है—

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरां[1]श्चातकान्वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
[2]सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥२१-क॥

१—रभसात्। २—सोत्कण्ठानि।

अन्वयः—अम्भोबिन्दु-ग्रहण-चतुरान् चातकान् वीक्षमाणाः श्रेणीभूताः बलाकाः परिगणनया निर्दिशन्तः सिद्धाः स्तनित-समये सोत्कम्पानि प्रियसचहरी-संभ्रमालिङ्गितानि आसाद्य त्वाम् मानयिष्यन्ति ।

(सं.) अम्भ इति । अम्भोबिन्दूनां वर्षोदबिन्दूनां ग्रहणे ; "सर्वसहापतित-मम्बु न चातकस्य हितम्" इति शास्त्राद्भूस्पृष्टोदकस्य तेषां रोगहेतुत्वादन्त-राल एव स्वीकारे चतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः कौतुकात्पश्यन्तः श्रेणीभूता बद्धपङ्क्तीः । अभूततद्भावे च्विः । बलाका बकपङ्क्तीः परि-गणनया एका द्वे तिस्र इति संख्यानेन निर्दिशन्तो हस्तेन दर्शयन्तः सिद्धाः स्तनितसमये त्वद्गर्जितकाले सोत्कम्पान्युत्कम्पपूर्वकाणि प्रियसहचरीणां संभ्रमेणालिङ्गितान्यासाद्य । स्वयंग्रहणाश्लेषसुखमनुभूयेत्यर्थः । त्वां मानयिष्यन्ति । त्वन्निमित्तत्वात्सुखला-भस्येति भावः ।।

पदार्थः—अम्भोबिन्दुग्रहण०=जल की बूंदों को पकड़ने में चतुर । चातकान्=चातक पक्षियों को । वीक्षमाणाः=देखते हुए । श्रेणीभूताः=पङ्क्तियां बांधे हुए । बलाकाः=बगुलों की पंक्तियों को । परिगणनया=गिनने से । निर्दिशन्तः=(अंगुली से) दिखाते हुए । सिद्धाः=देवयोनि विशेष, जो आधे मनुष्य और आधे देवता (Demigods) होते हैं । सोत्कम्पानि=प्रकम्प भरी, कँपकँपी के साथ । प्रियसहचरीसंभ्रम०=प्यारी सहचरियों के भय से पूर्ण आलिङ्गनों को । आसाद्य=प्राप्त करके । मानयिष्यन्ति=मान करेंगे, धन्यवाद देंगे ।

भाषानुवादः—जल की बूंदों को पकड़ने में चतुर चातक पक्षियों को देखते हुए (तथा) पङ्क्तियां बांधे हुए बगुलों की पङ्क्तियों को गिनती द्वारा (अंगुली से) दिखाते हुए सिद्ध (तुम्हारे) गर्जन के समय प्रियसहचरियों के भय से प्रकम्पभरे आलिङ्गनों को प्राप्त करके तुम्हारा धन्यवाद करेंगे ।

व्याकरणम्—अम्भोबिन्दु०=अम्भसः बिन्दूनां ग्रहणे चतुराः तान् । वीक्षमाणाः=वि+√ईक्ष् (भ्वा० आ०), देखना+शानच्, प्र० बहु० । निर्दि-

शन्तः=निर्+√दिश् (भ्वा० प०), दिखाना+अत्, प्र० बहु०। सोत्कम्पानि उत्कम्पेन सह वर्तमानानि सोत्कम्पानि। प्रिय-सहचरीसंभ्रम०=प्रियसहचरीणां संभ्रमेण आलिंगितानि। आसाद्य=आ+√सद् (भ्वा० प०)+य (ल्यप्) मानयिष्यन्ति=√मन् (चुरा० प०) लृट्, प्र० पु० बहु०।

विशेषः—स्तनितसमये=देखिए-शिशु० VI ३३ 'प्रणयकोपभृतोऽपि पराङ्मुखाः सपदि वारिधरारवभीरवः। प्रणयिनः परिरब्धुमथांगना ववलिरे वलिरेचितमध्यमाः।। और देखिए—ऋतु० II. १४, किरा० X. १९ ।।२१-क।।

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः [1]सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
[2]प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ।। २२ ।।

अन्वयः—हे सखे ! मत्प्रियार्थम् द्रुतम् यियासोः अपि ते ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते काल-क्षेपम् उत्पश्यामि। सजलनयनैः शुक्लापाङ्गैः केकाः स्वागतीकृत्य प्रत्युद्यातः (सन्) भवान् कथम् अपि आशु गन्तुम् व्यवस्येत् ।।२२।।

(सं.) उत्पश्यामीति। हे सखे मेघ ! मत्प्रियार्थं यथा तथा द्रुतं क्षिप्रम्। "लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः। यियासोर्यातुमिच्छोरपि। यातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। ते तव ककुभैः कुटजकुसुमैः सुरभौ सुगन्धिनि। "ककुभः कुटजेऽर्जुने" इति शब्दार्णवे। पर्वते पर्वते प्रतिपर्वतम्। वीप्सायां द्विरुक्तिः। कालक्षेपं कालविलम्बम्। "क्षेपो विलम्बे निन्दायाम्" इति विश्वः। उत्पश्याम्युत्प्रेक्षे। विलम्बहेतुं दर्शयन्नाशुगमनं प्रार्थयते—शुक्लेति। सजलानि सानन्दबाष्पाणि नयनानि येषां तैः शुक्लापाङ्गैर्मयूरैः। "मयूरो बर्हिणो बर्ही शुक्लापाङ्गः शिखावलः" इति यादवः। केकाः स्ववाणीः। "केका वाणी मयूरस्य" इत्यमरः। स्वागतीकृत्य स्वागतवचनी-

---

१—सनयनजलैः। २—प्रत्युद्यातः।

कृत्य प्रत्युद्यातः प्रत्युद्गतः । मयूरवाणीकृतातिथ्य इत्यर्थः । भवान् कथमपि यथा-कथंचिदाशु गन्तुं व्यवस्येदुद्युञ्जीत । प्रार्थने लिङ् । "शेषे प्रथमः" (१।४।१०८) इति प्रथमपुरुषः । शेषश्चायं भवच्छब्दो युष्मदस्मच्छब्दव्यतिरेकात् । "स्वागतीकृत्य केकाः" इत्यत्र केकास्वारोप्यमाणस्य स्वागतवचनस्य प्रकृतप्रत्युद्गमनोपयोगात्परिणामालंकारः । तदुक्तमलंकारसर्वस्वे–"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः" इति ॥ २२ ॥

पदार्थः—मत्प्रियार्थम्=मेरी प्यारी के लिए अथवा मेरे भले के लिए । द्रुतम्=जल्दी । यियासोः=जाने की इच्छा रखने वाले । ककुभसुरभौ=कुटज के फूलों से सुगन्धित । पर्वते पर्वते=प्रति पर्वत पर । कालक्षेपम्=समय के विलम्ब की । उत्पश्यामि=मैं सम्भावना करता हूं । सजल-नयनैः=आँसुओं से भरे नेत्रोंवाले । शुक्लापाङ्गैः=मोरों द्वारा । केकाः=(अपनी) टें-टें ध्वनि को । स्वागतीकृत्य=स्वागत के शब्द बनाकर । प्रत्युद्यातः=अगवानी किया जाता हुआ, अभिनन्दित किया गया । कथमपि=यथा-तथा, जैसे-तैसे । आशु=जल्दी । गन्तुम्=जाने के लिए । व्यवस्येत्=उद्योग करना, यत्न करना ॥

भाषानुवादः—हे मित्र ! मैं संभावना करता हूं कि मेरी प्रिया के (अथवा-प्रिय कार्य के) निमित्त जल्दी-जल्दी जाना चाहते हुए भी तुम्हें कुटज के फूलों से सुगन्धित प्रत्येक पर्वत पर (कुछ) देरी लग (ही) जायगी । (आनन्द के कारण) डबडबाते नेत्रोंवाले मयूरों से (अपनी) टें-टें की ध्वनि को स्वागत का शब्द बनाकर अभिनन्दित किए जाते हुए तुम जैसे-तैसे जल्दी जाने का प्रयत्न करना ॥२२॥

व्याकरणम्—सखे ! =सखि का सम्बोधन । मत्प्रियार्थम्=मदीया प्रिया मत्प्रिया तस्या अर्थम् अथवा मदीयं प्रियं (कार्यम्) तस्य अर्थम् (ष० तत्पु०) द्रुतम्=अव्यय, 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । यियासोः=यियासु (√या, अदा० प० का सन्नन्त+उ, तस्य) का षष्ठी का एक० । ककुभ-सुरभौ=ककुभैः कुटज-कुसुमैः सुरभौ सुगन्धिते । पर्वते पर्वते=वीप्सायां द्विरुक्तिः । कालक्षेपम्=

कालस्य क्षेपम् (ष० तत्पु०)। उत्पश्यामि = उत्+√दृश् [भ्वा० प०] उत्त० पु० एक०। स्वागतीकृत्य = अस्वागतं स्वागतं संपद्यमानं कृत्वा इति स्वागतीकृत्य, स्वागत+च्वि+√कृ (तना० उभ०)+य (ल्यप्)। प्रत्युद्यातः = प्रति+उत्+√या (अदा० प०)+ क्त प्र० एक०। कथमपि–अव्यय। देखिए रघु० 'क्लेशात् कथमप्यक्रामति'। आशु = अव्यय। गन्तुम् = √गम्, [भ्वा० प०]+तुम् (तुमुन्)। व्यवस्येत् = वि+अव+√सो (दिवा० प०) (नाश करना) प्र० पु० एक०, प्रार्थने लिङ्, 'शेषे प्रथमा' इससे 'भवान्' शब्द के प्रयोग में प्रथम पुरुष।

विशेषः—शुक्लापाङ्गैः = मयूरैः 'मयूरो बर्हिणो बर्हीं शुक्लापाङ्गः शिखावलः' इति यादवः। मयूरों के अपाङ्ग (नेत्र–प्रान्त, कनखियां) श्वेत होते हैं, इसलिए उनको 'शुक्लापाङ्ग' कहते हैं। केकाः = 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। मयूर की टें–टें, टेंकार।

मत्प्रियार्थम् = 'मदभीष्ट–कार्य–साधनार्थम्। अस्मत्प्रिया–सन्देश–कथनार्थं वा' सारोद्धारिणी। 'मदीया प्रिया मत्प्रिया तदर्थम्। अथवा मत्प्रियं सन्देश–प्रकाशन–लक्षणं तदर्थम्।'–महिमसिंहगणी।

स्वागतीकृत्य = टें–टें की वाणी को स्वागत के शब्द बनाकर। देखिए—मृच्छ० V. २३ 'एह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः और देखिए—रघु० II. १ 'विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य। उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥' यहां 'परिणाम' अलंकार है, क्योंकि स्वागतवचन केकारूप होकर प्रकृत अर्थात् मेघ के प्रत्युद्गमन में उपयोगी होते हैं, परिणाम अलंकार में उपमान उपमेय रूप होकर प्रकृतार्थ में उपयोगी होता है, देखिये साहित्यदर्पण–विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि। परिणामो भवेत् X ३४ ॥२२॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
　　[1]र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने [2]परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
　　सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥ २३ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) त्वयि आसन्ने (सति) दशार्णाः सूचिभिन्नैः केतकैः पाण्डुच्छायोपवन-वृतयः, गृह-बलिभुजाम् नीडारम्भैः आकुल-ग्राम-चैत्याः, परिणतफल-श्याम-जम्बू-वनान्ताः (तथा) कतिपय-दिन स्थायि-हंसाः सम्पत्स्यन्ते ॥२३॥

(सं०) पाण्ड्विति । हे मेघ ! त्वय्यासन्न संनिकृष्टे सति दशार्णा नाम जनपदाः सूचिभिन्नैः सूचिषु मुकुलाग्रेषु भिन्नैर्विकसितैः । "केतकीमुकुलाग्रेषु सूचिः स्यात्" इति शब्दार्णवे । केतकैः केतकीकुसुमैः पाण्डुच्छाया हरितवर्णा उपवनानां वृतयः कण्टकशाखावरणा येषु ते तथोक्ताः । "प्राकारो वरणः सालः प्राचीनं प्रान्ततो वृतिः" इत्यमरः । तथा गृहबलिभुजां काकादिग्रामपक्षिणां नीडारम्भैः कुलायनिर्माणैः । "कुलायो नीडमस्त्रियाम्" इत्यमरः । चित्याया इमानि चैत्यानि रथ्यावृक्षाः । "चैत्यमायतने बुद्धवन्द्ये चोद्देशपादपे" इति विश्वः । आकुलानि संकीर्णानि ग्रामेषु चैत्यानि येषु ते तथोक्ताः । तथा परिणतैः पक्वैः फलैः श्यामानि यानि जम्बूवनानि तैरन्ता रम्याः । "मृताववसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते" इति शब्दार्णवे । तथा कतिपयेष्वेव दिनेषु स्थायिनो हंसा येषु ते तथोक्ता एवंविधाः संपत्स्यन्ते भविष्यन्ति । "पोटायुवतिस्तोककतिपय-" (२।१।६५) इत्यादिना कतिपयशब्दस्योत्तरपदत्वेऽपि न तच्छब्दस्योत्तरत्वमस्ति; अस्य शास्त्रप्रायिकत्वात् ॥ २३ ॥

१—नीडारम्भे वि० ।　२—फलपरिणति० विल्स०; परिणीतफल ।

पदार्थः—त्वयि आसन्ने=तेरे पास आने पर। दशार्णाः=इस नाम का देश। सूचिभिन्नैः=डोडियों के अग्रभाग में खिले हुए। केतकैः=केतकी के फूलों से। पाण्डुच्छायोपवन०=जहां के उद्यान की बाड़ें (मेड़ें) पाली-सी कान्ति वाली (हो गईं) हैं। गृह-बलि-भुजाम्=घर की बलि को खानेवाले (कौए आदि) पक्षियों के। नीडारम्भैः=घोंसलों के निर्माणों से। आकुल-ग्रामचैत्याः=जिसके ग्राम की गलियों के पवित्र (पीपल आदि) वृक्ष भरे पड़े हैं। परिणत-फल-श्याम-जम्बू०=जहां जामुन के जंगलों के पर्यन्तभाग पके हुए फलों से काले हो गए हैं। कतिपयदिन०=जहां हंस थोड़े दिनों तक ठहरनेवाले हैं, ऐसे। सम्पत्स्यन्ते=हो जाएंगे ॥२३॥

भाषानुवादः—(हे मेघ!) तेरे आ जाने पर दशार्ण-देश में उद्यानों की बाड़ें (Hedges=मेड़ें) अग्रभाग में खिले हुए केतकी के फूलों से पीली-सी हो जाएंगी; ग्राम की गलियों के पवित्र (पीपल आदि) वृक्ष घरों में बलि के अन्न को खानेवाले (कौए आदि) पक्षियों के घोंसलों के निर्माण से भर जाएंगे; (तथा) जामुन के जंगलों के किनारे पके हुए फलों से काले हो जाएंगे और हंस थोड़े दिनों तक (ही) ठहरेंगे ॥२३॥

व्याकरणम्—त्वयि आसन्ने=आ+√सद् [भ्वा० प०]+न (क्त) सति सप्तमी (Locative absolute)। सूचिभिन्नैः='सूच्याकारेषु मुकुलाग्रेषु भिन्नैः विकसितैः'—सरस्वती तीर्थ। पाण्डुच्छायोपवन०=पाण्ड्वी छाया यासां ताः (बहुव्री०) पाण्डुच्छाया उपवनानां वृतयः येषु ते (बहुव्री०)। गृह-बलि-भुजाम्=गृहेषु बलिं भुञ्जते ते गृह-बलि-भुजः तेषां गृहबलि-भुजाम्। नीडारम्भैः=नीडानां निलयानाम् आरम्भैः (आ+√रभ्+घञ्, भावे (आरम्भः तैः) निर्माणैः। आकुल-ग्राम-चैत्याः=आकुलानि संकीर्णानि ग्रामेषु चैत्यानि येषु (ब०व्री०), चिता अथवा चित्या तस्या इमानि इति चित्या+अण्=चैत्यानि। परिणत-फल-श्याम०=परिणतैः (परि+√नम्+क्त परिणत) पक्वैः फलैः

श्यामा जम्बूवनानां अन्ताः येषु ते (बहुव्री०)। मल्लि० इसका विग्रह इस प्रकार करता है—परिणतफल-श्यामानि जम्बूवनानि (कर्मधा०) तैः अन्ताः (रम्याः) तृ० तत्पु०। कतिपयदिनस्थायि०=कतिपयेष्वेव दिनेषु स्थायिनो हंसा येषु ते (बहुव्री०)। इस समास की रचना में—जैसा मल्लि० और सरस्वती० का विचार है—पाणिनि के "पोटा-युवतिस्तोककतिपय···" इत्यादि नियम का उलंघन किया गया है। उक्त नियमानुसार इस समास में 'कतिपय' शब्द को पूर्व में न रख कर अन्त में रखने से 'दिनकतिपयस्थायिहंसाः' यह प्रयोग होना चाहिए था, परन्तु यह नियम प्रायिक ही है, इसलिए कालिदास का प्रयोग अपवाद ही समझना चाहिए। सम्पत्स्यन्ते = सम्+√पद् (दिवा० आ०), लृट् प्र० पु० बहु०। देखिए—श्लोक सं० ११ पूर्वमेघ ॥२३॥

विशेषः—दशार्णाः = दशार्णानाम् निवासी जनपदः 'तस्य निवासः' से दशार्ण से अण् प्रत्यय हुआ। इस प्रत्यय का 'जनपदे लुक्' से लोप हुआ। दशार्ण की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—दश ऋणानि (दुर्गाणि) येषामिति दशार्णाः क्षत्रियविशेषाः। सरस्वती० के अनुसार यह प्रदेश विन्ध्याचल के उत्तर में स्थित है। विलसन (Wilson) के विचार में 'दशार्ण' "दोसारेने" (Dosarene) से मिलता-जुलता है। कात्यायन के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति 'दशन+ऋण' से हुई है और इसका 'दस दुर्गों का प्रदेश' यह अर्थ है। यह प्रदेश वर्तमानकाल का 'छत्तीस गढ़' ही हो सकता है, क्योंकि छत्तीस गढ़ में से होकर 'दशार्णा' नाम की एक नदी बहती है, जो विन्ध्याचल से निकलती है।

···ग्रामचैत्याः = 'ग्रामाणां चैत्यानि चतुष्पथस्थवृक्षाः' सरस्वती०। 'चैत्याः पूज्यपादपाः पिप्पलादयः' सारो०। वल्लभ 'चैत्य' का अर्थ "बुद्धालय" करता है। परन्तु यह मल्लि० तथा अन्य टीकाकारों को उचित प्रतीत नहीं होता।

गृहबलिभुजाम् = इसका 'गृहेषु बलिं भुंजत इति' सरस्वती० के द्वारा

किया गया अर्थ है। कोई 'गृह' का अर्थ यहां "कलत्र" करते हैं, परन्तु यह खींचा-तानी ही है।

जम्बूवनान्ताः = मल्लि० ने 'अन्त' का अर्थ "रम्य" किया है अर्थात् 'जम्बू के वनों से रमणीय', परन्तु यह ठीक मालूम नहीं देता, क्योंकि 'वनान्त' में आये अन्त शब्द का अर्थ बाहरी भाग लेना अच्छा है, अतः वनान्त का अर्थ कालिदास तथा अन्य कवियों ने 'जगल का किनारा; पर्यन्त या जंगल के पास की भूमि' लिया है। देखिये—रघु० II. १९ (तं) आवर्तमानं वनिता वनान्तात्। पुनः रघु० II. ५८ 'वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते। उत्तर० II में यत्र रम्यो वनान्तः' यह प्रयोग है। और देखिए-ऋतु० 'भ्रमति पवनधूतः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते'। लक्ष्मीनिवास ने इसका 'जम्बूवनप्रदेशाः' यह अर्थ किया है ॥२३॥

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं[1] कामुकत्वस्य [2]लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु[3] यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि[4] ॥२४॥

अन्वयः—दिक्षु प्रथित-विदिशा-लक्षणाम् तेषाम् (दशार्णानाम्) राजधानीम् गत्वा सद्यः कामुकत्वस्य अविकलम् फलम् (अपि) लब्धा यस्मात् (त्वम्) वेत्रवत्याः स्वादु चलोर्मि पयः सभ्रूभङ्गम् मुखम् इव तीर-उपान्त-स्तनित-सुभगम् (यथा स्यात् तथा) पास्यसि ॥२४॥

(सं.) तेषामिति। दिक्षु प्रथितं प्रसिद्धं विदिशेति लक्षणं नामधेयं यस्यास्ताम्। "लक्षणं नाम्नि चिह्ने च" इति विश्वः। तेषां दशार्णानां संबन्धिनीम्। धीयन्तेऽ-

१—फलमतिमहत् विल्स०। २—लब्ध्वा। ३—स्वादु यत्तत् मल्लि० म० सिं० सु० वि०, सारो०, स० ती० स्वादुयुक्त वल्ल० विल्स०। ४—चलोर्म्याः।

स्यामिति धानी। "करणाधिकरणयोश्च" (३।३।११७) इति ल्युट्। राज्ञां धानी राजधानी। "कृद्योगलक्षणा षष्ठी समस्यते" (वा. १३१७) इति वक्तव्यात्समासः। तां प्रधाननगरीम्। "प्रधाननगरी राज्ञां राजधानीति कथ्यते" इति शब्दार्णवे। गत्वा प्राप्य सद्यः कामुकत्वस्य विलासितायाः। "विलासी कामुकः कामी स्त्रीपरो रतिलम्पटः" इति शब्दार्णवे। अविकलं समं फलं प्रयोजनं लब्धा लप्स्यते। त्वयेति शेषः। कर्मणि लुट्। कुतः? यस्मात्कारणात् स्वादु मधुरम् चला ऊर्मयो यस्य तच्चलोर्मि तरङ्गितं वेत्रवत्या नाम नद्याः पयः सभ्रभङ्गं भ्रुकुटियुक्तम्। दशनपीडयेति भावः। मुखमिव। अधरमिवेत्यर्थः। तीरोपान्ते तटप्रान्ते यत् स्तनितं गर्जितं तेन सुभगं यथा तथा। 'स्तनित' शब्देन भणितमपि व्यपदिश्यते। "ऊर्ध्वमुच्चलितकण्ठनासिकं हुङ्कृतं स्तनितमल्पघोषवत्" इति लक्षणात्। पास्यसि। पिबतेर्लृट्। "कामिनीनामधरास्वादः सुरतादतिरिच्यते" इति भावः॥ २४॥

पदार्थः—दिक्षु = दिशाओं में। प्रथित-विदिशा-लक्षणाम् = जिसका विदिशा नाम प्रसिद्ध है। तेषाम् राजधानीम् = उसकी (दशार्ण देश की) राजधानी में। गत्वा = जाकर। सद्यः = शीघ्र ही। कामुकत्वस्य = विलासिता का। अविकलम् = अशेष, सम्पूर्ण। फलम् = फल को। लब्धा = प्राप्त करेगा। यस्मात् = क्योंकि। वेत्रवत्याः = वेत्रवती नाम की नदी का। चलोर्मि = चञ्चल लहरोंवाला। पयः = जल। तीरोपान्तस्तनित० = (दन्ताघातसे वेदनाके कारण) तेवड़ी-चढ़े। मुखम् इव = मुंह की तरह। पास्यसि = पान करेगा॥२४॥

भाषानुवादः—उस (दशार्ण देश) की दिशाओं में विदिशा नाम से सुविख्यात राजधानी में जाकर (तुम्हें) शीघ्र ही कामित्व (विलासिता) का अशेष फल (भी) मिल जायगा, क्योंकि (तुम) वेत्रवती नदी के चञ्चल लहरोंवाले एवं मधुर जल को यों पीओगे जैसे तेवड़ी-चढ़े एवं मधुर मुंह को (कामी पीते हैं)॥२४॥

व्याकरणम्—दिक्षु = दिक् (स्त्री०)+सु, स० एक० । प्रथितविदिशा० = प्रथितं प्रसिद्धं विदिशेति लक्षणं नामधेयं यस्यास्ताम् (ब० व्री०) । राजधानीम् = राज्ञाम् धानीम् (स्थानम्) । गत्वा = √गम् (भ्वा० प०), जाना+क्त्वा । कामुकत्वस्य = कामुकस्य भावः कामुकत्वं तस्य । अविकलम् = विगता कला यस्य तद्विकलम् (बहुव्री०) न विकलम् अविकलम् (नञ् तत्पु०), लब्धा = √लभ् (भ्वा० आ०), पाना, लुट् प्र० पु० एक० (कर्मणि लुट् त्वया इति शेषः) । चलोर्मि = चला ऊर्मयो यस्याः तत् । सभ्रूभङ्गम् = भ्रूभङ्गेन सह वर्तमानम् (बहुव्री०) । तीरोपान्तस्तनित० = तीरस्य उपान्ते तटप्रान्ते यत् स्तनितं गर्जितं तेन सुभगम् यथा स्यात् तथा । पास्यसि = √पा, (भ्वा० प०), पीना, लृट् लकार, म० पु० एक० ॥२४॥

विशेषः—विदिशा = यह प्राचीन काल में वेत्रवती नाम की नदी पर स्थित एक प्रसिद्ध नगर था । यह 'दशार्ण देश' की राज-धानी था । वर्तमान काल में इससे मालवा-स्थित 'भिलसा' लिया जाता है । विदिशा के आधार पर उस मण्डल (ज़िले) का नाम, जिसमें यह स्थित थी, प्रायः 'वैदिश' कहलाता था ।

राजधानीम् = राज्ञां धानी स्थानम् । राजा का स्थान । देखिए—यम-धानी, पुष्प-धानी (उर्दू फूल दान) ।

स्वादु यस्मात्—इस के स्थान में 'स्वादु यत्र' अथवा 'स्वादुयुक्तम्' पाठ भी मिलते हैं । पहले पाठ का अर्थ है 'जहां विदिशा में' । यह पाठ 'स्वादु यस्मात्' से अच्छा नहीं है, क्योंकि 'यत्र' में अन्तिम अक्षर ह्रस्व होने से छन्दो भंग दोष हो जाता है । पादान्त में अन्तिम अक्षर का विकल्प से दीर्घ मान लेने का नियम (पादान्तस्थं विकल्पेन) द्वितीय और चतुर्थ पाद के अन्तिम अक्षर पर ही लागू होता है न कि प्रथम और तृतीय के अन्तिम अक्षर पर भी । इसलिये हतवृत्तता दोष आ जाने के कारण 'यत्र' पाठ की अपेक्षा 'यस्मात्'

पाठ ही ठीक है। 'स्वादु यस्मात्' इस पाठ से यह स्पष्ट किया गया है कि क्यों बादल को विलासिता का फल प्राप्त होगा। 'स्वादुयुक्तम्' पाठ भी ठीक नहीं बैठता, क्योंकि स्वादु स्वयं विशेषण शब्द है।

फलमविकलम्--इसकी जगह 'फलमपि महत्' यह पाठ भी मिलता है। इस पाठ से यह अर्थ हो जाता है--'(कामित्व का) महान फल भी (मिल जायगा)'। 'अविकलम्' के स्थान में महत् वाला पाठ भी अच्छा ही है, क्योंकि भोगविलास का महान् फल अधर पान ही समझा जाता है। देखिए-कामशास्त्र 'कामिनामधरास्वादः सुरतादतिरिच्यते'।

चलोर्मि-इसके स्थान मे 'चलोर्म्याः' पाठान्तर है जो कि 'वेत्रवत्याः' का विशेषण है। किन्तु पयः का विशेषण बनने के स्वारस्य है, क्योंकि लहरों-वाले जल का भ्रूभङ्गवाले मुख से समानता बतलाने में ही कवि का अभिप्राय है। इस कारण 'चलोर्मि' वाला पाठ ही अच्छा है।

वेत्रवत्याः—वेत्रवती नदी का आधुनिक नाम 'वेतवा' है। यह विन्ध्याचल के उत्तर से निकलकर भिल्स या विदिशा में से होती हुई कल्पी के पास यमुना नदी में जा मिलती है। इस नदी का बहुत सा भाग मालव प्रान्त में से हो कर जाता है। देखिए—कादम्बरी I 'मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमालया वेत्रवत्या परिगता विदिशाभिधाना नगरी राजधान्यासीत् ॥२४॥'

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र [१]विश्रान्ति-हेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥२५॥

अन्वयः--(हे मेघ) तत्र (विदिशायां) विश्रान्ति हेतोः (त्वम्)

१—विश्रामहेतोः मल्लि. विल्स. इत्यादि।

प्रौढ-पुष्पैः त्वत्संपर्कात् पुलकितम् इव नीचैराख्यम् गिरिम् अधिवसेः, यः (गिरिः) पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः शिला-वेश्मभिः नागराणाम् उद्दामानि यौवनानि प्रथयति ॥२५॥

(सं०) नीचैरिति। हे मेघ! तत्र विदिशासमीपे। विश्रामो विश्रमः खेदापनयः। भावार्थे घञ्प्रत्ययः। तस्य हेतोः। विश्रामार्थमित्यर्थः। "षष्ठी हेतुप्रयोगे" (२।३।२६) इति षष्ठी। विश्रामेत्यत्र "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" (७।३।३४) इति पाणिनीये वृद्धिप्रतिषेधेऽपि 'विश्रामो वा" इति चन्द्रव्याकरणे विकल्पेन वृद्धिविधानाद्रूपसिद्धिः। प्रौढपुष्पैः प्रवुद्धकुसुमैः कदम्बैर्नीपवृक्षैः। त्वत्संपर्कात्तव सङ्गात्। पुलका अस्य जाताः पुलकितमिव संजातपुलकमिव स्थितम्। तारकादित्वादितच्प्रत्ययः। नीचैरित्याख्या यस्य तं नीचैराख्यं गिरिमधिवसेः। गिरौ वसेरित्यर्थः। "उपान्वध्याङ्वसः" (१।४।४८) इति कर्मत्वम्। यो नीचैर्गिरिः। पण्याः क्रेयाः स्त्रियः पण्यस्त्रियो वेश्याः। "वारस्त्री गणिका वेश्या पण्यस्त्री रूपजीविनी" इति शब्दार्णवे। तासां रतिषु यः परिमलो गन्धविशेषः। "विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे" इत्यमरः। तमुद्गिरन्त्याविष्कुर्वन्तीति तथोक्तानि तैः। शिलावेश्मभिः कन्दरैः नागराणां पौराणामुद्दामान्युत्कटानि यौवनानि प्रथयति प्रकटयति। उत्कटयौवनाः क्वचिदनुरक्ता वाराङ्गनाविश्रम्भविहाराकाङ्क्षिण्यो मात्रादिभयान्निशीथसमये कंचन विविक्तं देशमाश्रित्य रमन्ते। तच्चात्र बहुलमस्तीति प्रसिद्धिः। अत्रोद्गारशब्दो गौणार्थत्वान्न जुगुप्सावहः प्रत्युत काव्यस्यातिशोभाकर एव। तदुक्तं दण्डिना (काव्यादर्श. १।९५) "निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥" इति ॥ २५ ॥

पदार्थः—तत्र = उस विदिशा में। विश्रान्तिहेतोः = आराम करने के लिए। नीचैः आख्यम् गिरिम् = 'नीचैः' इस नामवाले पर्वत पर। अधिवसेः = ठहरना, रहना। प्रौढपुष्पैः कदम्बैः = पूरे खिले हुए कदम्ब (नीप) के फूलों से।

त्वत्-संपर्कात् = तेरे संसर्ग या मेल से। पण्यस्त्री.....द्गारिभिः = वेश्याओं की रति-क्रीड़ा में (प्रयुक्त) सुगन्ध को उगलनेवाले। शिलावेश्मभिः = पत्थर के गृहों (गुफाओं) से। नागराणाम् = नगरवासियों के। उद्दामानि = उभरे, उत्कट। यौवनानि = यौवन (जवानी) को प्रथयति = प्रकट करता है ॥२५॥

भाषानुवादः--(हे मेघ !) वहां (विदिशा में) विश्राम करने के लिए (तुम) 'नीचैः' नामवाले पर्वत पर ठहरना जो कि पूरे खिले हुए फूलों से तुम्हारे संसर्ग के कारण रोमाञ्चित हुआ-सा लगता है, तथा वेश्याओं की रति-क्रीड़ाओं में (प्रयुक्त) सुगन्ध को उगलनेवाले पत्थर के गृहों (गुफाओं) के द्वारा नगर-वासियों के उभरे हुए यौवन को प्रकट करता है ॥२५॥

व्याकरणम्---विश्रान्तिहेतोः = विश्रान्तेः (ष० तत्पु०)। विश्रान्तेः = वि+ √श्रम्, [दिवा० प०] (आराम करना)+क्तिन् (भावे)। प्रौढपुष्पैः = प्र+√वह, [भ्वा० प०]+क्त, कर्त्तरि प्रौढानि पुष्पाणि येषु (बहु व्री०)। त्वत्सम्पर्कात् = सम् + √ पृच्, (भ्वा० प०) + घञ् भावे सम्पर्कः (षष्ठी तत्पु०) तस्मात् हेतौ पञ्चमी। पुलकितम् = पुलकाः अस्य जाताः पुलक+इत, तारकादित्वात् 'तारकादिभ्य इतच्'। नीचैराख्यम्= आख्यानम् आख्या, (आ+√ख्या+अङ् भावे) नीचैः आख्या अस्य (बहुव्री०) तम्। गिरिम् का विशे०। अधिवसेः=अधि+ √ वस्, (भ्वा० प०), विधि लिङ्, म० पु० एक०। वस् धातु 'अधि' उपसर्ग के योग में 'उपान्वध्याङ् वसः' सूत्र से सकर्मक हो जाता है, अतः 'गिरि' में सप्तमी न आकर द्वितीया का प्रयोग हुआ। पण्यस्त्रीरति०=पण्याः क्रेयाः स्त्रियः तासां रतिषु यः परिमलः तम् उद्गिरन्ति आविष्कुर्वन्ति इति तैः (शिलावेश्मभिः)। नागराणाम्=नगरे भवा इति, नगर+अण् नागराः तेषाम्। उद्दामानि=दाम्नः शृंखलाया उद्गतानि इति (प्रादितत्पु०)। यौवनानि=युवन् तस्य भावः इति युवन्+अण्=यौवनम् तानि। यह प्रथयति का कर्म है। प्रथयति = √प्रथ, (चु० प०) (प्रसिद्ध होना)+णिच्, लट् प्रथम पु० एक० ॥२५॥

विशेषः—मल्लि० ने 'विश्रान्ति-हेतोः' के स्थान में 'विश्राम-हेतोः' पाठ दिया है और विश्राम शब्द की व्युत्पत्ति पर "विश्रामेत्यत्र नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" इति पाणिनीये वृद्धिप्रतिषेधेऽपि 'विश्रामो वा' इति चन्द्रव्याकरणे विकल्पेन वृद्धि-विधानाद्रूपसिद्धिः' लिख कर 'विश्राम' शब्द को व्याकरण के द्वारा शुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'विश्रम' ही शुद्ध प्रयोग है 'विश्राम' नहीं। मल्लि० ने "विश्रामो वा" यह चन्द्रव्याकरण का सूत्र दिया है, परन्तु यह सूत्र चन्द्रव्याकरण में कहीं भी नहीं मिलता। चन्द्रव्याकरण भी सूत्र VI. १, ४२ के अनुसार 'विश्रम' ही सिद्ध करता है। संभवतः मल्लि० के मस्तिष्क में जैनेन्द्र व्याकरण का "विश्रामो वा" (V. २. ४१) यह सूत्र हो। विश्राम शब्द के अशुद्ध होने के कारण ही वल्लभ श्लोक की टीका करता हुआ लिखता है:—विश्राम-शब्दः कवीनां प्रमादजः अतः "विश्रान्ति हेतोः" पाठ ठीक है।

पुलकितमिव=पूरे खिले हुए कदम्ब के फूलों में शरीर में प्रकट हुए रोंगटों की उत्प्रेक्षा की गई है। यहां "पुलकितम्" का अर्थ 'रोमाञ्चितम्' है। रोमाञ्चित तथा कदम्ब फूल के लिये देखिए—उत्तर० III. ४२ 'सस्वेद-रोमाञ्चित-कम्पिताङ्गी जाता प्रिय-स्पर्श-सुखेन वाला। मरुन्नवाम्भः प्रविधूत-सिक्ता कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव।'

उद्गारिभिः=उगलनेवाले, प्रकट करनेवाले (शिलाओं के घर)। यहां 'उद्गार' शब्द गौणार्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस लिए जुगुप्सा होने से अश्लीलत्व-दोष नहीं आता, प्रत्युत इससे काव्य की शोभा ही बढ़ जाती है। देखिए—दण्डी 'काव्यादर्श' में क्या कहते हैं—'निष्ठ्यूतोद्गीर्ण-वान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते।' उद्गार का असली अर्थ 'वमन' है।

पण्यस्त्री = वेश्या, देखिये—'वारस्त्री गणिका वेश्या पण्यस्त्री रूपजीविनी'

इति शब्दार्णवः; मोल से खरीदी जानेवाली औरत। उभरे हुए यौवनवाली वेश्याएं किसी-किसी पर अनुरक्त हो स्वच्छन्द विहार चाहती हुईं 'माता' आदि के डर से आधीरात के समय किसी एकान्त स्थान में जाकर प्रेमियों के साथ रमण करती हैं--विदिशा में यह प्रसिद्ध ही है (मल्लि०)।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है क्योंकि यहां खिले हुए फूलों में रोमाञ्चत्व की संभावना की गई है। देखिए—साहित्यदर्पण 'भवेत् संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना'॥ २५॥

विश्रान्तः सन् व्रज [1]वननदीतीरजानां[2] निषिञ्च-
　　न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
　　छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥ २६॥

अन्वय :--तत्र (नीचैःगिरौ) विश्रान्तः (सन्) वननदीतीरजानाम् उद्यानानाम् यूथिका-जालकानि नव-जलकणैः निषिञ्चन् गण्डस्वेदापनयन-रुजाक्लान्त-कर्णोत्पलानाम् पुष्पलावीमुखानाम् छायादानात् क्षणपरिचितः (सन्) व्रज॥२६॥

(सं०) विश्रान्त इति। विश्रान्तः संस्तत्र नीचैर्गिरौ विनीताध्वश्रमः सन्। अथ विश्रान्तेरनन्तरम्। वनेऽरण्ये या नद्यस्तासां तीरेषु जातानि स्वयंरूढानि। अकृत्रिमाणीत्यर्थः। "नगनदी-" इति पाठे "पुमान्स्त्रिया" (१।२।६७) इत्येकशेषो दुर्वारः। तेषामुद्यानानामारामाणां संबन्धीनि यूथिकाजालकानि मागधीकुसुममुकुलानि। "अथ मागधी। गणिका यूथिका" इत्यमरः। "कोरकजालककलिकाकुडमलमुकुलानि तुल्यानि" इति हलायुधः। नवजलकणैः सिञ्चन्नार्द्रीकुर्वन्। अत्र सिञ्चतेरार्द्रीकरणार्थत्वाद्द्रवद्रव्यस्य करणत्वम्। यत्र तु क्षरणमर्थ-

---

१—नगनदी० सु. वि., वल्ल० विल्स०; नवनदी० सारो० म० सि०

२—तीरजातानि सिञ्चन् मल्लि० विल्स० इत्यादि।

स्तत्र द्रवद्रव्यस्य कर्मत्वम् । यथा "रेतः सिक्त्वा कुमारीषु" "सुखैर्निषिञ्चन्त-मिवामृतं त्वचि" इत्येवमादि । एवं किरतीत्यादीनामपि "रजः किरति मारुतः"। "अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः" इत्यादिष्वर्थभेदाश्रयणेन रजोला-जादीनां कर्मत्वकरणत्वे गमयितव्ये । तथा गण्डयोः कपोलयोः स्वेदस्यापनयनेन प्रमार्जनेन या रुजा पीड़ा । भिदादित्वादङ्प्रत्ययः । तया क्लान्तानि म्लानानि कर्णोत्पलानि येषां तेषां तथोक्तानाम् । पुष्पाणि लुनन्तीति पुष्पलाव्यः पुष्पाव-चायिकाः स्त्रियः । 'कर्मण्यण्' (३।२।१) । "टिड्ढाणञ्–" (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । तासां मुखानि । छायाया अनातपस्य दानात् । कान्तिदानं च ध्वन्यते । "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः" इत्यमरः । कामुकदर्शना-त्कामिनीनां मुखविकासो भवतीति भावः । क्षणपरिचितः क्षणं संसृष्टः सन् । न तु चिरम् । गच्छ ॥ २६ ॥

पदार्थः—विश्रान्तः सन्=आराम कर चुकने पर । वननदी-तीरजानाम् उद्यानानाम्=जगल की नदियों के किनारों पर (स्थित) बागों को । यूथिका-जालकानि=चमेली की कलियों को । नवजलकणैः=नए जल की बूंदों से । निषिञ्चन् = सींचता हुआ । गण्डस्वेदापनयनरुजा-क्लान्त-कर्णोत्पला-नाम् = जिनके कानों में (डाले गये) कमल गालों पर (आये हुये) पसीने के हटाने की बाधा से मुरझा गये हैं (ऐसी) । पुष्पलावीमुखानाम् = फूलों को तोड़नेवाली स्त्रियों के मुखों का । छायादानात् = छाया के देने के कारण । क्षणपरिचितः = क्षणभर परिचय प्राप्त कर । व्रज = जाना ॥ २६ ॥

भाषानुवाद :—वहां, विश्राम करके जंगल की नदियों के किनारों पर (स्थित) बागों में चमेली की कलियों को नये जल की बूँदों से सींचता हुआ, फूलों को तोड़नेवाली स्त्रियों के मुखों का, जहाँ कानों में (लटकाये हुये) कमल गालों पर आये हुये पसीने के हटाने की बाधा में मुरझाये होंगे, छाया देने के कारण क्षण-भर परिचय प्राप्त करते हुये, जाना ॥ २६ ॥

व्याकरणम्—विश्रान्तः = वि+√श्रम् (दिवा० प०)+क्त। वननदी-तीरजानाम् = वने या नद्यः तासां तीरेषु जातानाम्। नवजलकणैः = नव-जलानां कणैः (ष० तत्पु०)। निषिञ्चन् = नि+√सिच् (तुदा० प०)+ अत्। सिच धातु का अर्थ गीला करना है, इसलिये जलकण में तृतीया हुई। जब सिच का अर्थ किसी द्रव को छिड़कने का हो, तो इसके साथ कर्मकारक आता है। यहां इसका कर्म यूथिकाजालकानि' है। गण्ड स्वेदापन-यन० = गण्डयोः स्वेदस्यापनयनेन या रुजा तया क्लान्तानि कर्णयोः उत्पलानि येषु तेषां (पुष्पलावी-मुखानाम्) (बहुव्री०)। पुष्पलावीमुखानाम् = पुष्पाणि लुनन्तीति पुष्पलाव्यः, "कर्मण्यण्" इति 'अण्' 'टिड्ढाणञ' इत्यादिना ङीप् तासां मुखानि तेषाम् (ष० त०) छायादानात् = छायायाः दानात् (ष० तत्पु०)। क्षणपरिचितः = क्षणं परिचितः 'कालाध्वनोः अत्यन्त संयोगे' द्वितीया। व्रज = √व्रज् (भ्वा० प०), जाना लोट, म० पु० एक० ॥२६॥

विशेष:—वननदीतीरजानाम् = मल्लि० 'वननदीतीर-जानाम्' के स्थान में 'वननदीतीरजानि' पाठ देता है और इसका 'जंगल की नदियों के किनारों पर स्वयं उगे हुए बागों के' यह अर्थ करता है। कहीं-कहीं 'वन नदी' के स्थान में 'नद-नदी' पाठ मिलता है; पर मल्लि० ने उसका खण्डन कर दिया है, क्योंकि 'नद नदी' इस पाठ में 'पुमान् स्त्रिया' इस व्याकरण के सूत्र से एक शेष हो जाने से 'नद' ही शेष रह जाना चाहिए था। के० पी० पाठक 'वन-नदी' से किसी विशेष नदी को लेते हैं और इसके समर्थन में सारोद्धा० की निम्नलिखित उद्धरण देते हैं:—"अथवा मालवदेशे यूथिका-खण्ड-मण्डितोद्यान-मालित-तीरदेशा वननदी नाम्ना सरिदस्तीति"। साथ ही वल्लभ की यह पङ्क्ति भी देते हैं:—'कानन-सरिन्नदी-विशेषो वा'। सारोद्धा० में 'नवनदी' पाठ आया है, परन्तु इसमें 'वननदी' पाठ भी माना गया है जैसा कि ऊपर उद्धरण दिया गया है। सुमति० वल्लभ तथा विल्सन (Wilson) 'नग-नदी' पाठ देते हैं। जिसका अर्थ 'पहाड़ी नदी' है।

पुष्पलावी=विलसन इससे मालाकार-जाति का अर्थ लेते हैं।

छायादानात्क्षण०=छाया के देने से फूलों को तोड़नेवाली स्त्रियां मेघ को कामुक समझ कर प्रसन्न होंगी और मेघ भी उनके क्षणिक सहवास का आनन्द ले लेगा।

मेघ में कामुक-व्यवहार-समारोप होने से इस श्लोक में 'समासोक्ति' अलंकार है ॥ २६ ॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा[1] स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरित[2]चकितैस्तत्र[3] पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितो[4]ऽसि ॥ २७ ॥

अन्वयः---उत्तराशाम् प्रस्थितस्य भवतः पन्थाः यदपि वक्रः (तथापि) उज्जयिन्याः सौधोत्सङ्ग-प्रणय विमुखः मा स्म भूः। तत्र विद्युद्-दाम-स्फुरित चकितैः लोलापाङ्गैः पौराङ्गनानाम् लोचनैः यदि न रमसे (तर्हि, त्वम्) वञ्चितः असि ॥ २७ ॥

(सं०) वक्र इति। उत्तराशामुदीचीं दिशं प्रति प्रस्थितस्य भवतः पन्था उज्जयिनीमार्गो वक्रो यदपि। दूरो यद्यपीत्यर्थः। विन्ध्यादुत्तरवाहिन्या निर्विन्ध्यायाः प्राग्भागे कियत्यपि दूरे स्थितोज्जयिनी। उत्तरपथस्तु निर्विन्ध्यायाः पश्चिम इति वक्रत्वम्। तथाप्युज्जयिन्या विशालानगरस्य। "विशालोज्जयिनी समा" इत्युत्पलः। सौधानामुत्सङ्गेषूपरिभागेषु प्रणयः परिचयः। "प्रणयः स्यात्परिचये याच्ञायां सौहृदेऽपि च" इति यादवः। तस्य विमुखः पराङ्मुखो मा स्म भूः। न भवेत्यर्थः। "स्मोत्तरे लङ् च" (३।३।१७६) इति चकारादाशीरर्थे लुङ। "न माङ्योगे" (६।४।७४) इत्यडागमप्रतिषेधः। तत्रोज्जयिन्यां

१-मा च म विलस० २-स्फुरणचकितैः वल्ल० विलस० ३-यत्र का०पा०। ४-वञ्चितः स्याः का० पा०।

विद्युद्दाम्नो विद्युल्लतानां स्फुरितेभ्यः स्फुरणेभ्यश्चकितैर्लोलापाङ्गैश्चञ्चलकटाक्षैः पौराङ्गनानां लोचनैर्न रमसे यदि तर्हि त्वं वञ्चितः प्रतारितोऽसि तव जन्म-वैफल्यं भवेदित्यर्थः ॥ २७ ॥

पदार्थः—उत्तराशाम्=उत्तर दिशा की ओर। प्रस्थितस्य=जाते हुए। भवतः=तुम्हारा। पन्थाः=मार्ग। यदपि=यद्यपि। वक्रः=टेढ़ा। उज्जयिन्याः=उज्जयिनी (विशाला) के। सौधोत्सङ्ग-प्रणय-विमुखः=महलों के ऊपर वाले भागों का परिचय (सम्पर्क) प्राप्त करने से पराङ्मुख। मा स्म भूः=मत होना। तत्र=वहां, उज्जयिनी में। विद्युद्दामस्फुरित-चकितैः=बिजली की रेखा की चमक से भौचक्की-सी हुई, डरी हुई। पौराङ्गनानाम्=नगर की नारियों के। लोलापाङ्गैः=चञ्चल कटाक्षवाली। लोचनैः=आँखों से। न रमसे=रमण नहीं करता, आनन्द नहीं लेता। वञ्चितः असि=(जीवन सफलता से) ठगा गया है ॥२७॥

भाषानुवादः—उत्तर दिशा की ओर जाते हुए तुम्हारा मार्ग यद्यपि टेढ़ा है, (तथापि) उज्जयिनी के महलों के ऊपरवाले भागों का परिचय प्राप्त करने से विमुख न होना। वहां (उज्जयिनी में) बिजली की रेखाओं की चमक से भौचक्की (डरी) हुई नगर की नारियों की चञ्चल चितवनवाली आँखों का यदि तुमने आनन्द नहीं लिया, तो तुम (जीवन–सफलता से) वञ्चित ही हो ॥२७॥

व्याकरणम्—उत्तराशाम्=उत्तरा आशा (दिशा) कर्मधा०। ताम् प्रस्थितस्य=प्र+√स्था (भ्वा० प०)+क्त, ष० एक० 'भवतः' का विशेषण है। सौधोत्सङ्गप्रणय०=सौधानाम् उत्सङ्गेषु प्रणयः तस्य विमुखः। सौधः=सुधा (चूना) लेपः अस्यास्तीति सौधः (सौधम् वा)। मा स्म भूः="माङि-लुङ्, स्मोत्तरे लङ् च" यहाँ चकार से स्म के योग में लुङ् भी होता है। न माङ् योगे" इससे 'अट्' आगम का प्रतिषेध हुआ। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ३९।

विद्युद्दाम-स्फुरित-चकितैः=विद्युतः (वि+√द्युत्+क्विप्, तस्याः) दाम्नां स्फुरितेभ्यः चकितैः। लोलापाङ्गैः=लोलाः (चञ्चलाः) अपाङ्गाः नेत्रप्रान्ताः येषु तानि (ब० व्री०) पौराङ्गनानाम्=पुरे भवा इति,—पुर+अण्. पौराः। पौराणां अङ्गनाः तासाम्। वञ्चितः=√वञ्च्, (चु०आ०, ठगना, रहित कर देना)+क्त ॥२७॥

विशेषः—वक्रः पन्था=विन्ध्याचल से उत्तर की ओर बहती हुई निर्विन्ध्या नदी के पूर्व भाग में कुछ दूरी पर उज्जयिनी स्थित है और उत्तर का रास्ता निर्विन्ध्या के पश्चिम में है, इसलिए उत्तर की ओर जाते हुए मेघ का रास्ता टेढ़ा कहा गया है—मल्लि०।

उज्जयिन्याः=प्राचीन काल में अवन्ती मण्डल (जिला) की राजधानी उज्जयिनी थी। इसका वर्णन नासिक पर्वत के गुफाओं के शिला लेखों में है। प्टोलमी (Ptolemy) इसको 'चष्टाण' (Chastana) की राजधानी बताता है। उज्जयिनी सिप्रा नदी के किनारे पर स्थित है और यहां महाकाल (शिव) का मन्दिर है। 'महाकाल' के लिए पूर्वमेघ का श्लोक ३६ देखें। यहां बहुत से लोग यात्रा के लिए आया करते हैं। उज्जयिनी को ही अवन्तिका और विशाला भी कहते हैं। यह महाभारतके सात तीर्थ-स्थानों में से एक है। जिनका प्रातः स्मरण किया जाता है। इन सात तीर्थों के नाम ये हैं-अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।

वञ्चितोऽसि=इसका शब्दार्थ है कि तू (जीवन-सफलता से) वञ्चित है, ठगा गया है। इसके स्थान पर पाठान्तर 'वंचितः स्याः' है। सरस्वती० ने इसका अर्थ 'व्यर्थ-जन्मा भविष्यसि' दिया है और कहा है-'अथवा यदि तवैवं नोपदिशामि तर्हि त्वं मया वंचितोऽसि'। इसका अर्थ है कि यदि मैं तुम्हें ऐसा करने का उपदेश न दूँ, तो सचमुच मैंने तुमको धोका दिया है। देखिए—अभि० शा० II 'अनवाप्त-चक्षुःफलोऽसि' ॥२७॥

सम्प्रत्युज्जयिनीं गच्छतस्तस्य मध्येमार्गं निर्विन्ध्यासम्बन्धमाह—

वीचिक्षोभस्तनित[1]विहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव [2]रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं [3]प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ २८ ॥

अन्वयः—पथि वीचि-क्षोभ-स्तनित-विहग-श्रेणि--काञ्ची-गुणायाः स्खलितसुभगम् संसर्पन्त्याः (तथा) दर्शितावर्त-नाभेः निर्विन्ध्यायाः सन्निपत्य रसाभ्यन्तरः भव; हि स्त्रीणाम् प्रियेषु विभ्रमः आद्यम् प्रणय-वचनम् (भवति)।

(सं०) वीचीति । हे सखे ! पथ्युज्जयिनीपथे वीचिक्षोभेण तरङ्गचलनेन स्तनितानां मुखराणाम् । कर्तरि क्तः । विहगानां हंसानां श्रेणिः पङ्क्तिरेव काञ्चीगुणो यस्यास्तस्याः स्खलितेनोपस्खलनेन मदस्खलितेन च सुभगं यथा तथा संसर्पन्त्या प्रवहन्त्याः गच्छन्त्याश्च । तथा दर्शितः प्रकटित आवर्तोऽम्भसां भ्रम एव नाभिर्यया । "स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः" इत्यमरः । निष्क्रान्ता विन्ध्या-न्निर्विन्ध्या नाम नदी । "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" (वा० १३३९) इति समासः । "द्विगुप्राप्तापन्नालम-" (वा० १५४५) इत्यादिना परवल्लिङ्गता प्रतिषेधः । तस्या नद्याः संनिपत्य संगत्य । रसो जलमभ्यन्तरे यस्य सः । अन्यत्र,-रसेन शृङ्गारेणाभ्यन्तरोऽन्तरङ्गो भव । सर्वथा तस्या रसमनुभवेत्यर्थः। "शृङ्गारादौ जले वीर्ये सुवर्णे विषशुक्रयोः । तिक्तादावमृते चैव निर्यासे पारदे ध्वनौ । आस्वादे च रसं प्राहुः" इति शब्दार्णवे ॥ ननु तत्प्रार्थनामन्तरेण कथं तत्रानुभवो युज्यत इत्यत आह—स्त्रीणामिति । स्त्रीणां प्रियेषु विषये विभ्रमो विलास एवाद्यं प्रणयवचनं प्रार्थनावाक्यं हि । स्त्रीणामेष स्वभावो यद्विलासैरेव रागप्रकाशनम् । न तु कण्ठत इति भावः । विभ्रमश्चात्र नाभिसंदर्शनादिरुक्त एव ॥ २८ ॥

१—क्वणित । २—रसाभ्यन्तरं सारो०, म० सिं०, सु० वि०, विल्स० । ३—प्रणयि० सारो० ।

पदार्थः——पथि=उज्जयिनी के मार्ग में। वीचिक्षोभस्तनितविहग० =लहरों के चलने से शब्द करते हुए पक्षियों (हंसों) की पङ्क्ति ही जिसकी करधनी (तगड़ी) है। स्खलितसुभगं संसर्पन्त्या=(१) पत्थरों पर टकराने से (२) जवानी के मद से गिरने से जो बड़ी सुन्दर चाल से चल रही है। दर्शितावर्तनाभेः=जिसने जल के भँवर-रूपी नाभि को दिखा दिया है। निर्विन्ध्यायाः= निर्विन्ध्या नाम की नदी के। संनिपत्य=सम्पर्क में आकर। रसाभ्यन्तरः= (१) अन्दर जल धारण करनेवाला (२) शृंगाररस का स्वाद लेनेवाला। विभ्रमः = विलास, हाव-भाव। आद्यम् = प्रथम, पहला। प्रणय-वचनम् = प्रेम की याचना का शब्द ॥२८॥

भावानुवादः—मार्ग में निर्विन्ध्या नदी के, जिसकी लहरों के चलने से शब्द करते हुए पक्षियों (हंसों) की पङ्क्ति ही करधनी है और जो [(१) पत्थरों पर जल के टकराने के कारण (२) जवानी के मद के कारण] ठोकर खाने से सुन्दर चलती हुई भँवर-रूपी नाभि को दिखा रही है——सम्पर्क में आकर उसके रस [(१) जल (२) शृंगार] को ग्रहण करना, क्योंकि स्त्रियों का प्रेमियों के प्रति हाव-भाव प्रथम याचना का शब्द हुआ करता है।

व्याकरणम्—वीचिक्षोभस्तनितविहग० = वीचीनां क्षोभेण (ष० तत्पु०) स्तनितानां शब्दायमानानां विहगानां श्रेणिः पङ्क्तिरेव काञ्ची गुणो यस्याः सा (ब० व्री०)। स्खलितसुभगम् = स्खलितेन उपलस्खलनेन मदस्खलनेन च सुभगं यथा स्यात तथा। संसर्पन्त्याः = प्रवहन्त्याः गच्छन्त्याश्च; सम्+√ सृप [भ्वा० प०]+अत्+ङीप्, ष० एक०। दर्शितावर्तनाभेः = दर्शितः प्रकटितः आवर्तोऽम्भसां भ्रमः एव नाभिः (कर्मधा०) यया सा तस्याः (ब० व्री०)। निर्विन्ध्यायाः = निर्विन्ध्या समास प्रादितत्पु० है। 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से निर्विन्ध्यः होना चाहिए था, परन्तु 'द्विगुप्राप्तापन्नालं पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः' इस वार्तिक से प्रादितत्पु० में परवल्लिगता जाती रही। एवं

निर्विन्ध्या स्त्रीलिंग रूप बना। रसाभ्यन्तरः = (१) रसः = जलम् अभ्यन्तरे यस्य (ब० व्री०)–(२) रसेन (शृङ्गारेण) अभ्यन्तरोऽन्तरङ्गः (तृ० तत्पु०)। भव = √भू (भ्वा० प०), लोट्, म० पु० एक० ॥२८॥

विशेष:––निर्विन्ध्यायाः = निर्विन्ध्या मालव देश की एक नदी है। यह विन्ध्यपर्वत से निकलती है, इसीलिए इसका 'निर्विन्ध्या' यह अनुरूप नाम है––अर्थात् 'निष्क्रान्ता विन्ध्यात् इति निर्विन्ध्या'। जिनसेन ने अपने आदि-पुराण में भी इस नदी का वर्णन किया है।

विहगश्रेणिकाञ्ची० = देखिए––विक्रमो० IV. २४ 'तरङ्गभ्रूभंगा क्षुभित-विहगश्रेणि-रशना'। ऋतु० III. २४।

दर्शितावर्तनाभेः = जलकी भँवर ही नाभि है। देखिए–रघु० XIII. ४२ 'व्याजार्थसंदर्शितमेखलानि'। इस सम्बन्ध में श्री नन्दरगिकार ने नीचे दिए गए श्लोक का उद्धरण दिया है––'स्निग्धं दृष्टिपथ विभूषिततनुः कर्णस्य कण्डूयनं नाभेर्दर्शनमुत्पथं च गमनं बालस्य चालिङ्गनम्। केशानां च मुहुर्मुहुर्विवरणं निश्वस्य चालापनं कुर्युः प्रीतिवशात् स्त्रियः समदना दृष्ट्वा नरं वाञ्छितम्॥'

इस श्लोक में 'रूपक' अलंकार है। जहां उपमेय को कहकर उसमें उपमान का आरोप किया जाय, वहां 'रूपक' होता है। यहां इसपंक्ति में 'रशनात्व' और आवर्त में 'नाभित्व' का आरोप तो शाब्द है, किन्तु निर्विन्ध्या में 'नायिकात्व' का आरोप गम्य होने से एकदेशविवर्ति साङ्गरूपक है। रस शब्द के दो अर्थ होने से यहां 'श्लेष' अलंकार भी है और अन्तिम पाद में पादत्रयगत वस्तु का समर्थन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार भी है॥२८॥

निर्विन्ध्याया विरहावस्थां वर्णयंस्तन्निराकरणं प्रार्थयते––

वेणीभूतप्रतनुसलिला[1] तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः[2]।

१––सलिलासावतीतस्य मल्लि०, सलिला सात्वतीतस्य स० ती०।
२––शीर्णपर्णैः वल्ल०; विल्स०।

सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती[1]
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥२९॥

अन्वयः—वेणीभूतप्रतनुसलिला तटरुह-तरु-भ्रंशिभिः जीर्ण-पर्णैः पाण्डुच्छाया सिन्धुः विरहावस्थया ताम अतीतस्य ते सौभाग्यम् व्यञ्जयन्ती येन विधिना कार्श्यम् त्यजति, हे सुभग ! सः (विधिः) त्वया उपपाद्यः ॥२९॥

(सं०) वेणीति । अवेणि वेणीभूतं वेण्याकारं प्रतनु स्तोकं सलिलं यस्याः सा तथोक्ता । अन्यत्र,—वेणीभूतकेशपाशेति च ध्वन्यते । रुहन्तीति रुहाः । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । तटयो रुहा ये तरवस्तेभ्यो भ्रश्यन्तीति तथोक्तैः । जीर्णपर्णैः शुष्कपत्रैः पाण्डुच्छाया पाण्डुवर्णा । अत एव हे सुभग ! विरहावस्थया पूर्वोक्तप्रकारया करणेन । अतीतस्यैतावन्तं कालमतीत्य गतस्य । प्रोषितस्येत्यर्थः । ते तव सौभाग्यं सुभगत्वम । "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" (७।३।१९) इत्युभयपदवृद्धिः । व्यञ्जयन्ती प्रकाशयन्ती । स खलु सुभगो यमङ्गनाः कामयन्त इति भावः । असौ पूर्वोक्ता सिन्धुर्नदी निर्विन्ध्या । "स्त्री नद्यां ना नदे सिन्धुर्देशभेदेऽम्बधौ गजे" इति वैजयन्ती । येन विधिना व्यापारेण कार्श्यं त्यजति स विधिस्त्वयैवोपपाद्यः । कर्तव्य इत्यर्थः । स च विधिरेकत्र वृष्टिरन्यत्र सभोगस्तदभावनिबन्धनत्वात्कार्श्यस्येति भावः । इयं पञ्चमी मदनावस्था । तदुक्तं रतिरहस्ये—"नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः । उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।" इति । "तामतीतस्य" इति पाठमाश्रित्य सिन्धुर्नाम नद्यन्तरमिति व्याख्यातम् । किंतु सिन्धुर्नाम कश्चिन्नदः काश्मीरदेशेऽस्ति । नदी तु कुत्रापि नास्तीत्यपेक्ष्यमित्याचक्षते ॥२९॥

पदार्थः—वेणीभूतप्रतनुसलिला=जिसका कम जल वेणी (स्त्रियों की चोटी) जैसा बना हुआ है । वेणी के लिये देखिये—श्लोक १८, पूर्वमेघ । तटरुहतरुभ्रंशिभिः=किनारों पर उगे हुये वृक्षों से गिरते हुये । जीर्णपर्णैः

१–व्यञ्जयन्तीम् ।

= सूखे पत्तों से । पाण्डु-च्छाया = पीली कान्तिवाली । सिन्धुः = काला सिन्धु नाम की नदी । विरहावस्थया = वियोग की अवस्था द्वारा । ताम् = उस निर्विन्ध्या नदी को । अतीतस्य = पार करते हुये । ते = तेरे । सौभाग्यम् = अच्छे भाग्य को । व्यञ्जयन्ती = प्रकट करती हुई । येन विधिना = जिस प्रकार । कार्श्यम् = दुर्बलता को । त्यजति = छोड़ देती है । सुभग = हे भाग्यशाली ! सः = वह विधि । त्वया उपपाद्यः = तुम्हे करनी चाहिये ।२९।

भाषानुवाद :—उस (निर्विन्ध्या नदी) को पार करके, हे भाग्यवान ! तू ऐसा उपाय करना जिससे कि सिन्धु-नदी, जिसका क्षीण जल वेणी (स्त्रियों की चोटी) जैसा बना हुआ है, जो किनारों पर उगे हुये वृक्षों से गिरनेवाले पत्तों से पीली कान्तिवाली हो गई है और (अपनी) विरहावस्था से तेरी भाग्यशालिता को प्रकट कर रही है, अपनी दुर्बलता को त्याग दे ॥२९॥

व्याकरणम्—वेणीभूतप्रतनु० = न वेणी अवेणी, अवेणी वेणी सम्पद्यमानं भूतम् वेणीभूतं; वणीभूतं प्रतनु सलिलं यस्याः सा (ब० व्री०) । तटरुह-तरु-भ्रंशिभिः=तटेषु रुहन्ति ये तरवः तेभ्यो भ्रंशिभिः । जीर्णपर्णैः = जीर्णानि पर्णानि जीर्णपर्णानि तैः (कर्मधा०) । पाण्डु-च्छाया = पाण्डवी छाया यस्याः सा (ब० व्री०) । अतीतस्य = अति+√इण् (अदा० प०)+क्त, षष्ठी एक० । सौभाग्यम्=सुभगस्य भावः सौभाग्यम् । व्यञ्जयन्ती = वि+√अञ्ज् (भ्वा० प०)+अत्+ई (स्त्रियाम्), प्र० एक० । कार्श्यम् = कृशस्य भावः कार्श्यम् ॥२९॥

विशेष :—वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः = इसके स्थान में मल्लि० ने '…सलिलासावतीतस्य सिन्धुः' यह पाठान्तर दिया है और 'तामतीतस्य' का खण्डन करते हुये लिखा है—'तामतीतस्य' इति पाठमाश्रित्य सिन्धुर्नाम नद्यन्तरमिति व्याख्यानं तु सिन्धुर्नाम कश्चिन्नदः काश्मीरदेशेऽस्ति । नदी तु कुत्रापि नास्तीत्युपेक्ष्यम्, अर्थात् निर्विन्ध्या के अतिरिक्त सिन्धु नाम

की कोई और नदी है, यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि 'सिन्धु' कोई नदी नहीं है, किन्तु एक महानदी है, जो काश्मीर में ही बहती है न कि मालवा में। मल्लि० के पाठानुसार "अतीतस्य ते" इतने समय तक परदेश गए हुए तेरे और "असौ सिन्धुः" यह नदी (निर्विन्ध्या) का अर्थ होता है। मल्लि० के मतानुसार 'सिन्धु' शब्द यहाँ नदी-सामान्य का वाचक है, न कि नदी विशेष का। इसके समर्थन में मल्लि० ने वैजयन्ती का "स्त्री नद्यां नदे सिन्धुर्देशभेदेऽम्बुधौ गजे" यह उद्धरण दिया है, किन्तु मल्लि० के पाठ की अपेक्षा 'तामतीतस्य सिन्धुः' यह पाठ अच्छा प्रतीत होता है, क्योंकि मालव में 'काला सिन्धु' नाम की एक नदी भी है, जो चम्बल नदी में आ मिलती है। इसका समर्थन सारोद्धा० और सुमति० के द्वारा हो जाता है। इसके अनुसार सिन्धु' शब्द से यहां इसी नदी-विशेष का ग्रहण होता है न कि 'निर्विन्ध्या' का। मल्लि० को सम्भवतः इस 'काला-सिन्धु' नाम की नदी का पता नहीं था। इसके अतिरिक्त मल्लि० का 'अतीतस्य' का 'एतावन्तं कालमतीत्य गतस्य' अर्थात् इतने समय तक परदेश गए हुए तेरे—यह अर्थ करना निरी खेंचातानी ही है। इसके अतिरिक्त कवि ने 'सिन्धु' को कम जलवाली (प्रतनु-सलिला) कार्श्य-प्राप्त और एक धार में ही बहनेवाली (वेणीभूत०) बताया है, किन्तु निर्विन्ध्या को बड़े वेग से क्षुब्ध (वीचिक्षोभ०) चट्टानों से टकराती गिरती (स्खलितसुभग) और भँवरों से भरी हुई (दर्शितावर्तनाभेः) बतलाया है, अतः यहां 'सिन्धु' नदी 'निर्विन्ध्या' नदी से भिन्न ही है।

वेणीभूत० = वेणीभूत से अभिप्राय 'एक-वेणीभूत' का है। देखिए—अभि० शा० VII. २१, 'नियमक्षाममुखी धृतैकवेणी'।

सौभाग्यम् = जिसके लिए स्त्री के हृदय में प्रेम है और जिसे वह चाहती है वह पुरुष 'सुभग' (भाग्यशाली) होता है।

कवि का तात्पर्य सिन्धु नदी को विरहिणी बताना है, जो वियोग में एक ही

वेणी बांधे रखती है, सूख कर पीली पड़ गई है। मेघ उसका प्रिय है, जो बरस कर (संभोगद्वारा) उसकी कृशता को दूर कर देगा। इस तरह मेघ और नदी में नायक-नायिका का व्यवहार-समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥२९॥

प्राप्यावन्ती[१]नुदयनकथाकोविदग्राम[२]वृद्धा
न्पूर्वोद्दिष्टामुपसर[३] पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृ[४]तमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३०॥

अन्वयः---उदयन-कथा-कोविद-ग्राम-वृद्धान् अवन्तीन् प्राप्य (त्वम्) सुचरित-फले स्वल्पीभूते गां गतानाम् स्वर्गिणाम् शेषैः पुण्यैः हृतम् कान्तिमत् दिवःखण्डम् इव (स्थिताम्) पूर्व-उद्दिष्टाम् श्रीविशालाम् विशालाम् पुरीम् उपसर ॥३०॥

(सं०) प्राप्येति। विदन्तीति विदाः। इगुपधलक्षणः कः। ओकसो वेद्यस्थानस्य विदाः कोविदाः। ओकारे लुप्ते पृषोदरादित्वात्साधुः। उदयनस्य वत्सराजस्य कथानां वासवदत्ताहरणाद्यद्भुतोपाख्यानानां कोविदास्तत्त्वज्ञा ग्रामेषु ये वृद्धास्ते सन्ति येषु तान्। अवन्तींस्तन्नामजनपदान् प्राप्य तत्र पूर्वोद्दिष्टां पूर्वोक्तां "सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः" (पू. मे. २७) इत्युक्तां श्रीविशालां संपत्तिमतीम्। "शोभासंपत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते" इति शाश्वतः विशालां पुरीमुज्जयिनीमनुसर व्रज। कथमिव स्थिताम्? सुचरितफले पुण्यफले स्वर्गोपभोगलक्षणे स्वल्पीभूते। अत्यल्पावशिष्टे सतीत्यर्थः। गां भूमिं गतानाम्। "गौरिला कुम्भिनी क्षमा" इत्यमरः। पुनरपि भूलोकगतानामित्यर्थः। स्वर्गिणां स्वर्गवतां जनानां शेषैर्भुक्तशिष्टैः पुण्यैः सुकृतैर्हृतमानीतम्। स्वर्गार्थानुष्ठितकर्म-

१—अवन्तीम् विल्स० २—ज्ञान। ३—अनुसर मल्लि०, विल्स०इत्यादि, ४—कृतमिव का० पा०।

शेषाणां स्वर्गदानावश्यंभावादिति भावः । कान्तिरस्यास्तीति कान्तिमदुज्ज्वलम् । सारभूतमित्यर्थः । एकं भुक्तादन्यत् । 'एके मुख्यान्यकेवलाः" इत्यमरः । दिवः स्वर्गस्य खण्डमिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । एतेनातिक्रान्तसकलभूलोकनगरसौभाग्यसारत्वमुज्जयिन्या व्यज्यते ॥३०॥

पदार्थः—उदयनकथा—कोविद—ग्राम–वृद्धान्=जहां के गाओं के वृद्ध उदयन राजा की कथाओं के जानकार हैं। अवन्तीन्=अवन्ती नाम के देश में। प्राप्य=पहुँच कर। सुचरित-फले=पुण्य फल के। स्वल्पीभूते=कम हो जाने पर। गां गतानाम्=पृथ्वी पर आए हुए। स्वर्गिणाम्=स्वर्ग में रहनेवालों के। शेषैः पुण्यैः=बचे–खुचे पुण्यों द्वारा। हृतम इव=लाया हुआ सा। दिवः=स्वर्ग का। एकम् कान्तिमत् खण्डम=एक उज्ज्वल टुकड़ा। श्री विशालाम = सम्पत्तिशाली। विशालां पुरीम् = उज्जयिनी नगरी को। उपसर=पहुच ॥३०॥

भाषानुवादः—अवन्ती देश में पहुंच कर, जहां के गाओं के वृद्ध–पुरुष उदयन राजा की कथाओं से अच्छी तरह परिचित हैं, (तुम) पूर्व निर्दिष्ट विशाल सम्पत्तिवाली विशाला (उज्जयिनी) नगरी में जाना, जो ऐसी लगती है कि मानो पुण्य–फल के कम हो जाने पर पृथ्वी पर (लौट) आए स्वर्गवालों के बचे–खुचे पुण्यों द्वारा (अपने साथ) लाया गया स्वर्ग का एक उज्ज्वल टुकड़ा हो ॥३०॥

व्याकरणम्—उदयनकथाकोविद० = उदयनस्य वत्सराजस्य कथानां कोविदा ग्रामेषु वृद्धा येषां तान् (ब०व्री०) मल्लि० कोविद शब्द को पृषोदरादिवत् सिद्ध करते हैं। ओकतः वेद्य–स्थानस्य विदाः (जानकार) (ओलुप्त हुआ) √विद्+अ (कः) । भानु जी दीक्षित कोविद का निर्वचन इस प्रकार करते हैं–को वेदस्य विदाः अथवा कवि (को का स०एक०) विदा ज्ञानं यषां ते अवन्तीन्=देश वाचक शब्द संस्कृत में बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं—

जैसे = मगधा:, पाञ्चाला:, विदेहा: इत्यादि। प्राप्य = प्र+√आप् (स्वा० प०), पाना+य (ल्यप्)। सुचरितफले स्वल्पीभूते = सति सप्तमी (Locative Absolute)। स्वर्गिणाम् = √स्वर्ग+इन्, षष्ठी बहु०। गतानाम् = गम्+त (क्त), ष० ब०। दिव: = द्यौ का ष० एक०। कान्तिमत् = कान्ति+मतुप्। पूर्वोद्दिष्टाम् = पूर्व+उत्+√दिश् (तु० उ०, आज्ञा देना, बताना)+त+आ, द्वि० एक०। श्रीविशालाम् = श्रिया विशालाम्-सम्पन्नाम् (तृ० तत्पु०) विशालाम् = विशिष्टा: विविधा: वा शाला: (महल) यस्याम्। विशेष्य शब्द मान कर यह उज्जयिनी का ही नामान्तर है। यदि विशाला 'वैशाली' ही है, जिसका वर्णन भाग० पु० में आया है, तो इस पुराण की यह पंक्ति देखिए—'विशाला वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्।' उपसर = उप+√सृ, (भ्वा० प०) (सरकना चलना) लोट्, म० पु० एक०॥३०॥

विशेष:—अवन्तीन् = यह देश मालव का ही एक भाग है और उज्जयिनी इसकी राजधानी है।

उदयनकथा = वत्सराज उदयन, वासवदत्ता तथा पद्मावती की कथा 'कथासरित्सागर' में वर्णित है। भास के नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' म भी उदयन की कथा है। इस कथा का सारांश पूर्व मेघ श्लोक ३२ के विशेष में देखिए।

विशालाम् = यह उज्जयिनी का दूसरा नाम है। वल्लभ और सारोद्धा० के अनुसार विशालाम' पुरीम् का विशेषण है और इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—'विशिष्टा: विविधा वा शाला: प्राकारा यस्यां सा।'

स्वल्पीभूते सुचरित०—इस सम्बन्ध में देखिए 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।' भ० गी० IX. २१ यहां पर भी पुण्यों के क्षीण होने पर स्वर्ग से उन लोगों का मर्त्यलोक में प्रवेश करना बताया है, जिन्होंने वहां के सब अच्छे अच्छे भोगों को भोग लिया है। और देखिए—विक्र० II 'ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगत: स्वर्ग इति।

यहां प्रकृत (प्रस्तुत) विशाला में अप्रकृत (अप्रस्तुत) स्वर्ग--खण्ड की संभावना की गई है, इसलिए उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥३०॥

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ ३१ ॥

अन्वयः---यत्र (विशालायाम्) प्रत्यूषेषु पटु मदकलम् सारसानां कूजितम् दीर्घीकुर्वन् स्फुटित–कमला–मोद–मैत्री–कषायः, अङ्गानुकूलः शिप्रा–वातः प्रार्थनाचाटुकारः प्रियतमः इव स्त्रीणाम् सुरत–ग्लानिम् हरति ॥३१॥

(सं०) दीर्घीकुर्वन्निति । यत्र विशालायां प्रत्यूषेष्वहर्मुखेषु । "प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यम्" इत्यमरः । पटु प्रस्फुटम् । मदकलं मदेनाव्यक्तमधुरम् । "ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः" इत्यमरः । सारसानां पक्षिविशेषाणाम् । "सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः" इति यादवः । यद्वा,–सारसानां हंसानाम् । "चक्राङ्गः सारसो हंसः" इति शब्दार्णवे । कूजितं रुतं दीर्घीकुर्वन् । विस्तारयन्नित्यर्थः । यावद्वातं शब्दावृत्तेरिति भावः । एतेन प्रियतमः स्वचाटुवाक्यानुसारिक्रीडापक्षिकूजितमविच्छिन्नीकुर्वन्निति च गम्यते । स्फुटितानां विकसितानां कमलानामामोदेन परिमलेन सह या मैत्री संसर्गस्तेन कषायः सुरभिः । "रागद्रव्ये कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे" इति यादवः । अन्यत्र,–विमर्दगन्धोत्यर्थः । "विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे । आमोदः सोऽतिनिर्हारी" इत्यमरः । अङ्गानुकूलो गात्रसुखस्पर्शः । अन्यत्र,–गाढालिङ्गनदत्तगात्रसंवाहन इत्यर्थः । भवभूतिना (उत्तर. चरि. १।२७) चोक्तम्–"अशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि" इति । संवाह्यन्ते च सुरतश्रान्ताः प्रियैर्युवतयः । एतत्कविरेव वक्ष्यति (उ.मे.९८)-"संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानाम्" इति । शिप्रा नाम काचित्तत्रत्या नदी, तस्या वातः शिप्रावातः । 'शिप्रा' ग्रहणं शैत्यद्योतनार्थम् । प्रार्थना सुरतस्य

याच्ञा तत्र चाटु करोतीति तथोक्तः। पुनः सुरतार्थं प्रियवचनप्रयोक्तेत्यर्थः। कर्मण्यण्प्रत्ययः। प्रियतमो वल्लभ इव स्त्रीणां सुरतग्लानिं संभोगखेदं हरति नुदति। चाटूक्तिभिर्विस्मृतपूर्वरतिखेदाः स्त्रियः प्रियतमप्रार्थनां सफलयन्तीति भावः। "प्रार्थनाचाटुकारः" इत्यत्र "खण्डितनायिकानुनीता" इति व्याख्याने सुरतग्लानिहरणं न संभवति। तस्याः पूर्वं सुरताभावात्पश्चात्तनसुरतग्लानिहरणं तु नेदानीन्तनकोपशमनार्थं चाटुवचनसाध्यमित्युपेक्ष्यैवोचिता विदकिनाम्। "ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता" इति (२।२५) दशरूपके ॥३१॥

पदार्थः—यत्र = जहां (विशाला में)। प्रत्यूषेषु = प्रत्येक उषाकाल में (प्रातः)। पटु = तीव्र। मद-कलम् = मद से मीठा। कूजितम् = शब्द को। दीर्घीकुर्वन् = बढ़ाता हुआ, विस्तार देता हुआ। स्फुटित-कमलामोद० = पूर्ण विकसित कमलों के गन्ध के सम्पर्क से सुगन्धित। अङ्गानुकूलः = अङ्गों को सुख देनेवाला। शिप्रावातः = शिप्रा नदी का वायु। प्रार्थनाचाटुकारः = (रति) याचना में मीठी-मीठी बातें करनेवाले। प्रियतम इव = प्रेमी की तरह। सुरत-ग्लानिम् = संभोग की थकावट को। हरति = दूर करता है ॥३१॥

भाषानुवादः—जहां (विशाला में) प्रातः सारस-पक्षियों की ऊंची और मद से मीठी ध्वनि को विस्तार देता हुआ, पूर्ण-विकसित कमलों की गन्ध के संसर्ग से सुगन्धित (तथा) अङ्गों को सुख देनेवाला शिप्रा नदी का वायु (रति की) याचना में चिकनी--चुपड़ी बातें बनानेवाले प्रेमी की तरह स्त्रियों की रति से पैदा हुई थकावट को दूर करता है ॥३१॥

व्याकरणम्--सारसानाम् = सरसि चरन्ति इति, सरस्+अण सारसाः तेषाम्। दीर्घीकुर्वन् = अदीर्घं दीर्घं सम्पद्यमानं करोतीति दीर्घीकुर्वन्, दीर्घ+च्वि+√कृ, (तना० उभ०)+अत् शतृ। स्फुटितकमलामोद० = स्फुटितानां कमलानाम् आमोदेन सह या मैत्री तया कषायः सुगन्धितः। मैत्री = मित्रस्य भावः इति, मित्र+अण्, स्त्रियाम्। यहां अण् के स्थान में 'ष्यञ्' भी है सकता

है। 'कटु-तिक्त-कषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः।' अङ्गानुकूलः = अङ्गानामनुकूलः, (ष० तत्पु०)। प्रार्थनाचाटुकारः = प्रार्थनायां चाटुकारः, (स० तत्पु०)। प्रार्थना = प्र + √अर्थ + युज भावे। चाटुकारः = चाटू करोति इति, चाटु + √कृ + अण् कर्त्तरि ॥३१॥

विशेषः—दीर्घीकुर्वन् = जब तक वायु चलता रहता है तबतक सारस बोलते ही रहते हैं। इसलिए 'शिप्रावातः' को 'दीर्घीकुर्वन्' कहा है।

शिप्रा = यह एक नदी का नाम है जिसके किनारे पर उज्जयिनी स्थित है। देखिए—रघु० VI. ३५ 'शिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु।'

प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः = कुछ टीकाकारों ने यहां खण्डिता नायिका की विवक्षा की है। जब खण्डिता स्त्री पति के आचरण पर सन्देह करती है, तो पति पत्नी को प्रसन्न करने के लिए चिकनी-चुपड़ी बातें बनाता है, जिससे वह अपना काम बना सके। देखिए—कुमार सं० VIII. २५ चाटुकार इव दक्षिणानिलः। ओर देखिए पूर्वमेघ श्लोक ४१ 'तस्मिन् काले नयन-सलिलं प्रोषितां खण्डितानां शान्तिं नेयं प्रणयिभिः ....।' किन्तु मल्लि० के कथनानुसार यहां खण्डिता नायिका का कोई प्रसङ्ग नहीं है। खण्डिता नायिका के साथ पहले जब रति ही नहीं हुई, फिर रति की थकावट को दूर करने का प्रश्न ही नहीं उठता; अतः 'प्रार्थना-चाटुकारः' की 'खण्डिता नायिकानुनेता' ऐसी व्याख्या न करके "पुनः सुरतार्थं प्रिय-वचन-प्रयोक्ता" यों व्याख्या करनी चाहिए। 'खण्डिता नायिका' के लिए देखिए—दशरूप 'तिष्ठेदीर्ष्याकषायिता खण्डिता।' साहित्यदर्पण में इसका लक्षण यों दिया गया है 'पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्य-संभोग-चिह्नितः। सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता' ॥३-७५॥

चाटुकारः = देखिए—कुमार० VIII. 'अचचाम' सलवङ्गकेशरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः।'

यत्र स्त्रीणां सुरत० = इस प्रकार के विचार के लिए देखिए—अमरु० ५८ 'प्रातर्वाति मधौ प्रकाशविकसद्राजीवराजीरजो जालामोदमनोहरो रतिरसग्लानिं हरन्मारुतः।'

कवि ने इस श्लोक में 'शिप्रावातः' की प्रियतम से समता दिखाई है इस लिए यहां पूर्णोपमा अलंकार है ॥३१॥

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्यदर्पा-
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥३२॥

अन्वयः—अत्र वत्सराजः प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं जह्रे। अत्र तस्य एव राज्ञः हैमम् ताल-द्रुमम् अभूत्। अत्र किल नलगिरिः दर्पात् स्तम्भम् उत्पाट्य उद्भ्रान्तः—इति अभिज्ञः जनः आगन्तून् बन्धून् रमयति ॥३२॥

(सं०) प्रद्योतस्येति। अत्र प्रदेशे वत्सराजो वत्सदेशाधीश्वर उदयनः। प्रद्योतस्य नामोज्जयिनीनायकस्य राज्ञः प्रियदुहितरं वासवदत्तां जह्रे जहार। अत्र स्थले तस्यैव राज्ञः प्रद्योतस्य हैमं सौवर्णं तालद्रुमवनमभूत्। अत्र नलगिरिर्नामेन्द्रदत्तस्तदीयो गजो दर्पान्मदात् स्तम्भमालानमुत्पाट्योद्धृत्योद्भ्रान्त उत्पत्य भ्रमणं कृतवान्। इतीत्थम्भूताभिः कथाभिरित्यर्थः। अभिज्ञः पूर्वोक्तकथाभिज्ञः कोबिदो जन आगन्तून देशान्तरादागतान्। औणादिकस्तुन्प्रत्ययः। बन्धून् यत्र विशालायां रमयति विनोदयति। अत्र भाविकालंकारः। तदुक्तम्—"अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षत्वेन लक्षिते। अत्यद्भुतार्थकथनाद्भाविकं तदुदाहृतम्।" इति॥

पदार्थः—अत्र = यहां (उज्जयिनी में)। वत्सराजः = वत्सदेश का राजा उदयन। प्रद्योतस्य प्रियदुहितरम् = (उज्जयिनी के राजा) प्रद्योत की प्यारी कन्या (वासवदत्ता) को। जह्रे = हर ले गया था। राज्ञः = राजा का। हैमम् तालद्रुम-वनम्-अभूत् = सुनहरी तालों के वृक्षों का वन था। किल =

ऐसा सुनते हैं कि (किलेत्यैतिह्ये) । नलगिरिः = इस नाम का हाथी, (यहां उस चण्ड स्वभाववाले हाथी से अभिप्राय है जो कि प्रद्योत को इन्द्र के द्वारा दिया गया था)। दर्पात् = अभिमान से, मद से। स्तम्भम् = खम्बे को। उत्पाटच उखाड़कर। उद्भ्रान्तः = फिरता रहा (घूमा)। इति = इस प्रकार, यों। अभिज्ञः जनः = (पूर्व कथाओं को) जाननेवाले आदमी। आगन्तून् बन्धून् = (अन्य देशों व स्थानों से) आए हुए बन्धुओं को। रमयति = प्रसन्न करते हैं, मन बहलाया करते हैं ॥३२॥

भाषानुवादः—यहां (उज्जयिनी में) वत्सराज (उदयन) प्रद्योत राजा की प्रिय-पुत्री (वासवदत्ता) को हर ले गया था; यहां उसी राजा प्रद्योत का सुर्वणमय (सुनहरी) ताल-वृक्षों का वन था; कहते हैं कि यहां नलगिरि (हाथी) मद के कारण खम्बे को उखाड़ कर फिरता रहा—इस प्रकार (पुरानी कथाओं के) जानकार लोग (देश-देशान्तरों से) आए हुए बन्धुओं का मनोविनोद करते हैं।

व्याकरणम्—वत्सराजः = वत्सानां राजा; "राजाहः-सखिभ्यष्टच्" इति 'टच्' प्रत्ययः। राजन् में टच् (अ) प्रत्यय लग कर 'राज' शब्द बना। इसके रूप 'राम' के समान होंगे। प्रियदुहितरम् = प्रिया दुहिता ताम्, दुहितृ की द्वि० ए० व०। दुहितृ = दूरे हिता अथवा दुर्हिता दुहिता (यास्क)। जह्रे = √हृ, (भ्वा० उभ०) (ले जाना), लिट् प्र० पु० एक०। राज्ञः = राजन् की षष्ठी एकव०। हैमम् = हेम्न इदम्, हेमन्+अ। अभूत् = √भू, लुङ् प्र० पु० एक०। उत्पाटच = उत+√पट् (चु० उभ०)+य। उद्भ्रान्तः = उत्√भ्रम्, (भ्वा० प०)+त (क्त), प्र० ए० व०। अभिज्ञः = अभि+√ज्ञा, (क्र्या० उभ०) (जानना)+अ (क) प्रथमा एक०। आगन्तून् = आ√गम् (भ्वा० प०)+तु (उणादि) रमयति = √रम् (भ्वा० आ०)+णिच ॥३२॥

विशेषः—प्रद्योतस्य प्रियदुहितरम्=मल्लि० इस श्लोक को तथा इसके बाद आनेवाले 'हारांस्तारान्·········'श्लोक को प्रक्षिप्त बताता है, परन्तु...

मल्लि० का मत ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ये दोनों श्लोक 'पार्श्वाभ्युदय' में पाए जाते हैं। पार्श्वाभ्युदय का कर्त्ता जिनसेन आठवीं शताब्दी में हुआ और मल्लि० उसके बाद चौदहवीं शताब्दी में हुआ।

वल्लभ के कथनानुसार उदयन राजा की कथा 'बृहत्कथा' में दी गई है। बृहत्कथा को गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में लिखा। इसका संस्कृत अनुवाद क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव ने 'बृहत्कथा-मञ्जरी, और 'कथा-सरित्सागर' में किया है। कथा-सरित्सागर में दी गई उदयन की कथा का सारांश यह है—"उज्जयिनी के राजा चण्ड महासेन को 'वासवदत्ता' नाम की एक कन्या थी। राजकुमारी ने स्वप्न में वत्सराज उदयन को देखा और उसे देखते ही उसपर मोहित हो गई। किसी उपाय से राजकुमारी ने उदयन को अपने प्रेम का परिचय करा दिया और उदयन उसको पिता के घर से ले भाग गया।" सारो-द्धारिणी के अनुसार चण्ड महासेन का दूसरा नाम प्रद्योत था, जिसका परि-चय हमें इस श्लोक से मिलता है। सुमतिविजय चण्डमहासेन को चण्ड प्रद्योत भी कहता है।

इस श्लोक में अतीत की बात प्रत्यक्ष सी बताई गई है, अतः इसमें 'भाविक' अलङ्कार है। लक्षण के लिए मल्लि० की टीका देखिए—अर्थात् जहां अतीत अथवा भविष्य की कोई अत्यद्भुत बात इस प्रकार वर्णन की जाय जैसे कि वह हमारी आँखों के आगे प्रत्यक्ष-सी हो जाय वहां 'भाविक' अलङ्कार होता है ॥३२॥

हारांस्तारांस्तरलगुटि[1]कान्कोटिशः शङ्ख-शुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥३३॥

१—…गुलिकान् सारो० स० तो० म० सिं०।

अन्वयः——यस्याम् (विशालायाम्) कोटिशः विपणिरचितान् तरलगुटिकान् तारान् हारान्, शङ्ख-शुक्तीः, शष्प-श्यामान् उन्मयूख-प्ररोहान् मरकतमणीन्, विद्रुमाणां भङ्गान् च दृष्ट्वा सलिल-निधयः तोयमात्रावशेषाः संलक्ष्यन्ते ॥३३॥

(सं०) हारानिति । यस्यां विशालायां कोटिशो विपणिषु पण्यवीथिकासु । "विपणिः पण्यवीथिका" इत्यमरः । रचितान् प्रसारितान् । इदं विशेषणं यथालिङ्गं सर्वत्र संबध्यते । तारान् शुद्धान् । "तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके" इति विश्वः । तरलगुटिकान् मध्यमणीभूतमहारत्नान् । "तरलो हारमध्यगः" इत्यमरः । "पिण्डे मणौ महारत्ने गुटिका बद्धपारदे" इति शब्दार्णवे । हारान् मुक्तावलीः । तथा कोटिशः शङ्खांश्च शुक्तीश्च मुक्तास्फोटांश्च । "मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियाम्" इत्यमरः । शष्पं बालतृणं तद्वत् श्यामान् । "शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम्" इत्यमरः । उन्मयूखप्ररोहानुद्गतरम्याङ्कुरान् मरकतमणीन् गारुडरत्नानि । तथा विद्रुमाणां भङ्गान् प्रवालखण्डांश्च दृष्ट्वा सलिलनिधयः समुद्रास्तोयमात्रमवशेषो येषां ते तादृशाः संलक्ष्यन्ते । तथानुमीयन्त इत्यर्थः । रत्नाकरादप्यतिरिच्यते रत्नसंपद्भिरिति भावः ॥३३॥

पदार्थः——यस्याम्=जिस (विशाला) में, उज्जयिनी में । विपणिरचितान् =बाजारों में (बिक्री के लिए) सजाए गए । तारान्=शुद्ध । तरलगुटिकान्=जिनमें महारत्न मध्य-मणि थे । कोटिशः=करोडों । हारान्= मोतियों की मालाओं को । शङ्खशुक्तीः=शङ्ख और सीपियों को । शष्पश्यामान्=घास के समान गूढ़े हरे रंगवाली । उन्मयूखप्ररोहान्=जिनमें अङकुरों के समान चमकती हुई किरणें प्रकट हो रहीं थीं । मरकत-मणीन्= मरकत की मणियों को । विद्रुमाणा भङ्गान्=विद्रुमों (मूगों) के टुकड़ों को । दृष्ट्वा=देखकर । सलिलनिधयः=समुद्र । तोयमात्रावशेषाः=जिनमें केवल जल ही जल बाकी रह गया है । संलक्ष्यन्ते=दिखाई देते हैं ॥३३॥

भाषानुवाद:—जहाँ (विशाला में) बाजारों में (बिक्री के लिए) सजाए गए, मध्यभाग में महारत्नोंवाले, करड़ों असली मोतियों के शुद्ध हारों को, शङ्खों व सीपियों को, घास के समान गूढ़े हरे रंग की तथा अङ्कुरों की तरह ऊपर को उठी हुई किरणोंवाली मरकत मणियों को, एवं विद्रुमों (मूंगों) के टुकडों को देखकर समुद्र ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कि इनमें (अब) पानी-पानी ही बाकी रह गया हो ॥३३॥

व्याकरणम्—विपणि-रचितान् = विपणिषु पण्यवीथिकासु रचितान् प्रसारितान् । तरलगुटिकान् = तरलभूता गुटिका येषां ते (ब०व्री०) । शङ्ख-शुक्तीः = शङ्खाश्च शुक्तयश्च तान् (द्वन्द्व) । शष्पश्यामान् = शष्पम् इव श्यामान् । उन्मयूख-प्ररोहान् = उद्गता मयूखा येषां ते (ब० व्री०) उन्मयूखाः प्ररोहा येषां ते उन्मयूखप्ररोहास्तान् (बहुव्री०) । तोयमात्रावशेषाः = तोयम् एव तोयमात्रम् तदवशेषो येषां ते तादृशाः (ब० व्री०) । संलक्ष्यन्ते = सम्+√लक्ष्, चु० उभ० (देखना) कर्मणि लट् प्र० पु० बहु० ॥३३॥

विशेष:—तारान् = इसका अर्थ सुमतिविजय ने उज्ज्वलान् किया है। सरस्वतीतीर्थ-स्थूलानुज्ज्वलान् तथा मल्लि० शुद्धान् देता है ।

तरलगुटिकान् = इसका पाठान्तर 'तरल-घुटिकान्'। यहां ०घुटिकान् सम्भवतः ०गुटिकान् या ०गुलिकान् का अशुद्ध-रूप है । सरस्वती० इसकी 'निस्तलमुक्ताफलान्' तथा सारोद्धा० 'तरला नायकमणयस्त एव गुलिका येषु तान्' इस प्रकार अर्थ करते हैं ।

तोयमात्रावशेषाः = समुद्र को 'रत्नाकर' भी कहते हैं परन्तु जब कि इसके सब रत्न व मणियां विशाला में ही एकत्रित हो गए हैं, तब इसका 'रत्नाकर' यह नाम अयथार्थ हो गया है, तभी कहा गया है कि समुद्रों में केवल जल ही बाकी रह गया है ।

मल्लि० के मतानुसार यहाँ "प्रद्योतस्य प्रियदुहितरम्...." और "हारां-

स्तारांस्तरल......" के अतिरिक्त निम्न लिखित एक और प्रक्षिप्त श्लोक मिलता है :—

पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥३३-क॥

अन्वयः—(हे मेघ !) यत्र वाहाः पत्रश्यामाः (अत-एव) दिनकर-हय-स्पर्धिनः (तथा) शैलोदग्राः करिणः प्रभेदात् त्वमिव वृष्टिमन्तः, योधाग्रण्यः संयुगे प्रतिदशमुखम् तस्थिवांसः चन्द्रहास-व्रणाङ्कैः प्रत्यादिष्टाभरण-रुचयः ॥३३-क॥

(सं०)पत्रेति । हे जलद! यत्र विशालायां वाहा हयाः पत्रश्यामाः पलाशवर्णा अत एव दिनकरहयस्पर्धिनो वर्णतो वेगतश्च सूर्याश्वकल्पास्तथा शैलोदग्राः शैलव-दुन्नताः करिणः प्रभेदान्मदस्रावाद्धेतोस्त्वमिव वृष्टिमन्तः । अग्रं नयन्तीत्यग्रण्यः । "सत्सूद्विष—" (३।२।६१) इत्यादिना क्विप् । "अग्रग्रामाभ्यां नयतेः—" (वा. ५०६४) इति वक्तव्याण्णत्वम् । योधानामग्रण्य भटश्रेष्ठाः संयुगे युद्धे प्रति-दशमुखमभिरावणं तस्थिवांसः स्थितवन्तः । अत एव चन्द्रहासस्य रावणासे-र्व्रणानि क्षतान्येवाङ्काश्चिह्नानि तैः । "चन्द्रहासो रावणासावसिमात्रेऽपि च क्वचित्" इति शाश्वतः ॥ प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः प्रतिषिद्धभूषणकान्तयः । शस्त्र-प्रहारा एव वीराणां भूषणमिति भावः । अत्रापि भाविकालङ्कारः ॥

भाषानुवादः—(हे मेघ !) जहाँ घोड़े पत्तों की तरह सुन्दर रंग के (इसीलिए) सूरज के घोड़ों के साथ प्रतियोगिता करनेवाले हैं (और) पर्वतों जैसे ऊंचे हाथी मद-जल के बहने के कारण तुम्हारी तरह वर्षा करते हैं; (जहां) सैनिकों के नेता लड़ाई में रावण के विरुद्ध अभियान (चढ़ाई) करके

चन्द्रहास (रावण को तलवार) के घावों के चिह्नों द्वारा आभूषणों (गहनों) की कान्ति पर लात मारते हैं ॥३३-क॥

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै[1]-
बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः[2] ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं[3] नयेथा
लक्ष्मीं[4] पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३४॥

अन्वयः——जालोद्गीर्णैः केशसंस्कारधूपैः उपचितवपुः (तथा) बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिः दत्तनृत्योपहारः (त्वम्) कुसुम-सुरभिषु ललित-वनिता-पाद-रागाङ्कितेषु हर्म्येषु अस्याः लक्ष्मीम् पश्यन् अध्वखेदं नयेथाः ॥३४॥

(सं०) जालोद्गीर्णैरिति । जालोद्गीर्णैर्गवाक्षमार्गनिर्गतैः । "जालं गवाक्ष आनाये जालके कपटे गणे" इति यादवः ॥ केशसंस्कारधूपैः । वनिता-केशवासनार्थैर्गन्धद्रव्यधूपैरित्यर्थः । अत्र संस्कारधूपयोस्तादर्थ्येऽपि यूपदार्वादिवत्प्रकृतिविकारत्वाभावादश्वघासादिवत्षष्ठीसमासो न चतुर्थीसमासः । उपचितवपुः परिपुष्टशरीरः । बन्धौ बन्धुरिति वा प्रीत्या भवनशिखिभिर्गृहमयूरैर्दत्तो नृत्यमेवोपहार उपायनं यस्मै स तथोक्तः ॥ "उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा" । इत्यमरः । कुसुमैः सुरभिषु सुगन्धिषु । ललितवनिताः सुन्दरस्त्रियः । "ललितं त्रिषु सुन्दरम्" इति शब्दार्णवे । तासां पादरागेण लाक्षारसेनाङ्कितेषु चिह्नितेषु हर्म्येषु धनिकभवनेषु । अस्या उज्जयिन्या लक्ष्मीं पश्यन्, अध्वगमनेन खेदं क्लेशं नयेथा अपनय ॥ ३४ ॥

पदार्थः——जालोद्गीर्णैः = (खिड़कियों की) जालियों से निकलते हुए ।

१—०धूमैः सु० वि० । २—०नृत्तोपचारः का० पा० । ३—अध्वखिन्नान्तरात्मा का० पा० । ४—मुक्त्वा खेदं वल्ल०, खेदं नीत्वा सारो० सु० वि०, त्यक्त्वा खेदं विल्स०, रात्रिं नीत्वा ।

केशसंस्कारधूपैः = (स्त्रियों के) बालों को सुगन्धित करनेवाले धूप से। उपचितवपुः = परिपुष्ट शरीरवाला। बन्धु-प्रीत्या = भ्रातृस्नेह से। भवन-शिखिभिः = पालतू मोरों द्वारा। दत्त-नृत्योपहारः = जिसको नाच का उपहार दिया गया है। कुसुमसुरभिषु = फूलों से सुगन्धित। ललित-वनिता पाद-रागाङ्कितेषु = सुन्दर नारियों के पैरों में लगाए गए लाख से चिह्नित। हर्म्येषु = महलों में। अस्या लक्ष्मीं पश्यन् = इस उज्जयिनी की शोभा को देखता हुआ। अध्वखेदम् = मार्ग की थकावट को। नयेथाः = दूर करना ॥३४॥

भाषानुवादः—(खिड़कियों की) जालियों से निकलते हुए (स्त्रियों के) बालों को सुगन्धित करनेवाले धूप (के धूएं) से परिपुष्ट शरीरवाला होकर बन्धु-स्नेह के कारण पालतू मोरों द्वारा नृत्य का उपहार दिया जाता हुआ (तू) फूलों से सुगन्धित तथा सुन्दरियों के पैरों में लगाए गए लाक्षा-रस (महावर, मेंहदी) से चिह्नित महलों में इस (उज्जयिनी) की श्री (शोभा) को देखता हुआ मार्ग की थकावट को दूर करना ॥३४॥

व्याकरणम्—जालोद्गीर्णैः = जालेभ्यः उद्गीर्णः (प० त०); उद्गीर्णः—उद्+√गृ, (तुद्० प०)+त (न), तृ० बहु०। केशसंस्कारधूपैः = केशानां संस्कारस्तस्य धूपः (ष० तत्पु०)। संस्कार = सम्+√कृ+घञ् (करणे)। 'अत्र संस्कारधूपयोस्तादर्थ्येऽपि यूपदार्वादिवत् प्रकृतिविकारत्वाभावादश्वघासादिवत् षष्ठीसमासो न चतुर्थीसमासः' मल्लि०। उपचितवपुः = उपचितं (उप+√चि+क्त) वपुः यस्य सः (ब० व्री०)। बन्धुप्रीत्या = बन्धौ बन्धुरिति वा प्रीतिः तया। दत्तनृत्योपहारः = दत्तो नृत्यमेवोपहारः (उप+√हृ+घञ् भावे) उपायनं यस्मै सः (ब० व्री०)। कुसुमसुरभिषु = कुसुमैः सुरभिषु (तृ०तत्पु०) ललितवनितापाद० = ललितवनितानां पादरागेण (√रञ्ज्+घञ्+करणे या भावे तेन) अङ्कितेषु हर्म्येषु। लक्ष्मीम् = लक्षयति नीतिमन्तं पुमांसमिति,√ लक्ष+मुट्+ई। नयेथाः = √नी (भ्वा० आ०), वि० लिङ्, म० पु० ॥३४॥

विशेष:—केशसंस्कार० = इसके स्थान पर "केशसंस्कारधूमै:' यह पाठान्तर है किन्तु "०धूप:" वाला पाठ ठीक है।

बन्धुप्रीत्या = बादल और मोर म स्वाभाविक मैत्री है इसी विचार से मोरों को बादल का 'बन्धु' कहा गया है। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ६४ पर (हेमाम्भोज—) मल्लि० की टीका। इसी प्रकार उत्तरमेघ में 'तन्मध्ये च स्फटिक-फलका ⋯ नीलकण्ठ: सुहृद:' उत्तरमेघ १९ इस श्लोक में मोर को बादल का मित्र कहा गया है। मालविका० नाटक में भी 'मोर पुष्कर को गंभीर ध्वनि को बादल का गर्जन समझ कर ऊंची गर्दन करके उसके आगमन की प्रतीक्षा करने लगते, हैं।

दत्तनृत्योपहार: = दशरूपक के अनुसार' भवेद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रितम' अर्थात् भावों की अभिव्यक्तिवाला नाच 'नृत्य' है और जिस नाच में ताल और लय हों वह 'नृत्त' है। तुच्छ या छोटे पशु–पक्षियों का नाच नृत्त है। देखिए–पूर्वमेघ श्लो० ३८।

ललितवनितापाद० = देखिए—अभि० शा० IV. ४ निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारस: केनचित्।

अध्वखेदं नयेथा: = इसका पाठान्तर 'अध्वखिन्नान्तरात्मा' है, जिसका यह अर्थ है—'मार्ग से जिसका अन्तरात्मा थक गया है।' अन्तिम पाद में 'लक्ष्मीं पश्यन् के स्थान पर नीचे लिखे पाठान्तर हैं–(१) मुक्त्वा खेदं—वल्लभ (२) खे नीत्वा–सुमति० और सारोद्धा० (३) त्यक्त्वा खेद–विल्सन (Wilson) (४) नीत्वा खेदं–के० पी० पाठक। सुमति० और सारोद्धा० 'अध्वखिन्नान्तरात्मा' पाठ मानकर प्रकृत श्लोक में क्रियापद न होने से इस को तथा आगे आनेवाले श्लोक को युग्मक या युगल मानते हैं। अर्थात् उनके विचार में इस श्लोक का और इसके बाद के श्लोक का इकट्ठा अर्थ होता है। मल्लि० ऐसा नहीं करता क्योंकि उसने तीसरे पाद का पाठ 'अध्व–खेदं नयेथा:' इस प्रकार मानकर क्रियापद दे दिया है। हमने भी मल्लि० का पाठ लिया है।

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम [1]चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या
स्तोयक्रीडानिरत[2]युवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—भर्तुः कण्ठच्छविः इति गणैः सादरम् वीक्ष्यमाणः (सन्) पुण्यम् (तथा) कुवलय–रजोगन्धिभिः तोय–क्रीडा–निरत–युवति–स्नान–तिक्तैः गन्धवत्याः मरुद्भिः धूतोद्यानम् त्रिभुवनगुरोः चण्डीश्वरस्य धाम यायाः ।३५।

(सं०) भर्तुरिति । भर्तुः स्वामिनो नीलकण्ठस्य भगवतः कण्ठस्येव छविर्यस्यासौ कण्ठच्छविरिति हेतोर्गणैः प्रमथैः । "गणस्तु गणनायां स्याद्गणेशे प्रमथे चये" इति शब्दार्णवे । सादरं यथा तथा वीक्ष्यमाणः सन् । प्रियवस्तुसादृश्यादतिप्रियत्व भवेदिति भावः । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्, "तद्धितार्थ–" (२।१।५१) इत्यादिना समासः । तस्य गुरोस्त्रैलोक्यनाथस्य चण्डीश्वरस्य कात्यायनीवल्लभस्य पुण्यं पावनं धाम महाकालाख्यं स्थानं यायाः गच्छ । विध्यर्थे लिङ् । श्रेयस्करत्वात्सर्वथा यातव्यमिति भावः । उक्तं च स्कान्दे—'आकाशे तारकं लिङ्गं पाताले हाटकेश्वरम् । मर्त्यलोके महाकालं दृष्ट्वा काममवाप्नुयात् ।" इति । न केवलं मुक्तिस्थानमिदं किंतु विलासस्थानमपीत्याह—धूतेति । कुवलयरजोगन्धिभिरुत्पलपरागगन्धवद्भिस्तोयक्रीडासु निरतानामासक्तानां युवतीनां स्नानं स्नानीयं चन्दनादि । करणे ल्युट् । "स्नानीयेऽभिषवे स्नानम्" इति यादवः । तेन तिक्तैः सुरभिभिः । "कटुतिक्तकषायास्तु सौरभे च प्रकीर्तिताः" इति हलायुधः । सौगन्ध्यातिशयार्थं विशेषणद्वयम् । गन्धवत्या नाम नद्यास्तत्रत्याया मरुद्भिर्मारुतैर्धूतोद्यानं कम्पिताक्रीडमिति धाम्नो विशेषणम् ॥ ३५ ॥

१—चण्डेश्वरस्य विल्स० । २—०निरत विल्स० ।

पदार्थः—भर्तुःकण्ठच्छविरिति = स्वामी (शिवजी) के गर्दन की शोभा के समान (शोभावाला) है, इस विचार से। गणैः = शिवजी के सेवकों से। सादरम् = आदरपूर्वक, आदर के साथ। वीक्ष्यमाणः = देखा जाता हुआ। पुण्यम् = पवित्र। कुवलयरजोगन्धिभिः = कमलों की धूलि (Pollen) की गन्धवाले। तोयक्रीडानिरतयुवति० = जल-क्रीड़ा में लगी हुई स्त्रियों के स्नान से सुवासित। गन्धवत्याः = गन्धवती नदी के। मरुद्भिः = पवनों से। धूतोद्यानम् = जिसके उपवन (बाग) प्रकम्पित (हिलाए) जाते हैं। त्रिभुवन-गुरोः = तीनों लोकों के स्वामी। चण्डीश्वरस्य = पार्वती के पति (शिवजी) के। धाम=स्थान (महाकाल) को। यायाः = जाना ॥३५॥

भावानुवादः—(यह मेघ) स्वामी के गले की जैसी शोभावाला है—इस विचार से गणों द्वारा आदर के साथ देखा जाता हुआ (तू) तीनों लोकों के स्वामी पार्वती-नाथ के पवित्र स्थान (महाकाल) को जाना, जहां के उद्यान गन्धवती नदी के पवन से—जो कमलों की धूलि लिए हुए हैं (तथा) जो जल-क्रीड़ा में लगी हुई नवयुवतियों के स्नानीय (चूर्ण) से सुवासित रहता है—हिलते रहते हैं ॥३५॥

व्याकरणम्—कण्ठच्छविः = कण्ठस्येव छविः शोभा यस्यासौ (बहुव्री०)। वीक्ष्यमाणः = वि+√ईक्ष्, (भ्वा० आ०) (देखना)+शानच् (कर्मणि), प्र० एक०। कुवलयरजो० = कुवलयानां रजः (ष० तत्पु०) कुवलयरजः तस्य यो गन्धः स येषामस्तीति तैः (ब०व्री०); बहुव्रीहि समास के अन्त में 'गन्ध' शब्द को इ लगकर 'गन्धि' हो जाता है। तोयक्रीडानिरतयुवति० = तोये क्रीडा तोय-क्रीडा तासु निरतानाम् आसक्तानां (स० तत्पु०) युवतीनां यत् स्नानं स्ना-नीयं चन्दनादि तेन तिक्तैः सुवासितैः। स्नानम्—स्नान्ति जना अनेन इति स्नानम, करणे ल्युट। धूतोद्यानम् = धूतानि (√धू+त), कम्पितानि उद्या-नानि यस्मिन् तत् (धाम) (ब० व्री०)। त्रिभुवनगुरोः = त्रयाणां भुवनानां

समाहारस्त्रिभुवनम् (समाहारे द्विगु:) तस्य गुरोस्त्रैलोक्यनाथस्य। चण्डीश्वर-स्य = चण्डया: ईश्वर: तस्य। धाम = नान्तनपुं० द्वि० ए०व०। यायाः = या, (अदा० प०) (जाना), विधिलिङ्, म० पु० एक० ॥३५॥

विशेष:—भर्तु: कण्ठच्छविरिति = समुद्र-मन्थन से निकले हुए 'कालकूट' विष को शिवजी ने निगल लिया था, जिससे उनका गला काला हो गया। इस लिए उनको 'नीलकण्ठ:' अथवा 'कण्ठे-काल:' इन नामों से पुकारा जाता है।

तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तै: = इस समास में तिक्तै: का अर्थ सुवा-सितै:' है, "कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिता:" इति हलायुध:। यहां 'गन्धिभि:' तथा 'तिक्तै:' दो विशेषणों का प्रयोग अतिशय गन्ध को सूचित करता है।

गन्धवती = यह मालव प्रान्त में उज्जैन के पास बहनेवाली एक छोटी नदी है।

त्रिभुवनगुरोर्धामचण्डीश्वरस्य = तीनों भुवनों के स्वामी चण्डी (पार्वती) के पति (नाथ) के पवित्र स्थान पर। इससे 'महाकाल' की ओर संकेत किया गया है, जिसका वर्णन अगले श्लोक में है। तुलना कीजिए—'उज्जयिन्यां महाकालम् इति देवतायतनमस्ति। तत्र परमेश्वर: सदा संनिधत्ते, सर्वेभ्यो वरांश्च ददातीति प्रसिद्धम्। तस्मात् त्रिभुवनगुरो: इत्युक्तम्।'

चण्डेश्वरस्य=यह पाठ अच्छा नहीं। इसका अर्थ 'चण्ड' (इस नाम का एक गण) का स्वामी अथवा चण्ड (उग्र) स्वभाववाला देव। दूसरे अर्थ में समास कर्मधा० है, (चण्डश्चासौ ईश्वरश्च)। गण शिव के उपासक या सेवक हैं।

इस श्लोक में 'उदात्त अलंकार' है जिसमें किसी की विभूति या महत्त्व का वर्णन हो, वहाँ उदात्त अलंकार होता है ॥३५॥

अप्यन्यस्मिञ्जलधर ! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति[1] भानुः ।
कुर्वन्सन्ध्या बलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
[2]मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३६॥

अन्वयः—हे जलधर महाकालम् अन्यस्मिन् अपि काले आसाद्य ते (तत्र तावत) स्थातव्यम यावत् भानुः नयन-विषयम् अत्येति । श्लाघनीयाम् शूलिनः सन्ध्या-बलि-पटहताम् कुर्वन् (त्वम्) आमन्द्राणाम् गर्जितानाम् अविकलम् फलम् लप्स्यसे ॥३६॥

(सं०) अपीति । युग्मम् । हे जलधर ! महाकालं नाम पूर्वोक्तं चण्डीश्वर-स्थानमन्यस्मिन्सन्ध्यातिरिक्तेऽपि काल आसाद्य प्राप्य ते तव स्थातव्यम् । त्वया स्थातव्यमित्यर्थः । "कृत्यानां कर्तरि वा" (२।३।७१) इति षष्ठी । यावद्यावता कालेन भानुः सूर्यो नयनविषयं दृष्टिपथमत्येत्यतिक्रामति । अस्तमयकालपर्यन्तं स्थातव्यमित्यर्थः । यावदित्येतदवधारणार्थे, "यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे" इत्यमरः ॥ किमर्थमत आह—कुर्वन्निति । श्लाघनीयां प्रशस्यां शूलिनः शिवस्य संध्यायां बलिः पूजा तत्र पटहतां कुर्वन् संपादयन् । आमन्द्राणामीषद्गम्भीराणां गर्जितानामविकलमखण्डं फलं लप्स्यसे प्राप्स्यसि ॥ लभेः कर्तरि लृट् । महाकालनाथबलिपटहत्वेन विनियोगात्ते गर्जितसाफल्यं स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—जलधर = बादल ! (संबोधन) । महाकालम्=चण्डीश्वर के मन्दिर में । अन्यस्मिन् अपि काले=(सांझ के अतिरिक्त) और भी समय में । आसाद्य=पहुंच कर । ते=तुझे । स्थातव्यम्=ठहरना चाहिए । यावत्=जब तक । भानु=सूर्य । नयनविषयं अत्येति=आंखों के विषय को अतिक्रमण करता है, अर्थात् आँखों से ओझल नहीं हो जाता । श्लाघनीयाम्=प्रशंसनीय, अच्छी । शूलिनः=शिवजी की । सन्ध्या-बलि-पटहतां कुर्वन्=सांझ की पूजा में नगाड़े

१—अभ्येति म०सि०सारो०, सु० वि०, बल्ल०, विल्स० । २—आमन्त्राणाम् ।

(पटह) का काम देता हुआ (तू)। आमन्द्राणाम्=कुछ-कुछ गम्भीर। गर्जितानाम्=गर्जन का। अविकलम्=सम्पूर्ण। फलम्=फल को। लप्स्यसे=प्राप्त करेगा ॥३६॥

भावानुवादः—हे मेघ! महाकाल-स्थान पर (सांझ के अतिरिक्त) अन्य समय में भी पहुँच कर तू (तब तक वहीं) ठहरना जब तक कि सूरज आँखों से ओझल नहीं हो जाता। (वहां) शिवजी की सांझ की पूजा में अच्छे नगाड़े का काम देता हुआ तू अपने गंभीर-से गर्जन का पूरा-पूरा फल प्राप्त कर लेगा ॥३६॥

व्याकरणम्—जलधर=जलं धरतीति अथवा जलानां धरः, तत्सम्बुद्धौ। आसाद्य=आ+√सद्, (चुरा.उभ.) (जाना)+य। ते=युष्मद् का ष० ए०, 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी। इसका अर्थ 'त्वया' का है। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ७, 'गन्तव्या ते वसतिरलका'। अस्मद् और युष्मद् के दूसरे रूप वाक्य के प्रारम्भ में प्रयुक्त नहीं होते। स्थातव्यम्=√स्था+तव्य (कृत्य प्र०)। नयनविषयम्=नयनयोः विषयः नयन-विषयः तम्। अत्येति=अति+√इ, अदा० प० (जाना), प्र० पु० एक०। श्लाघनीयाम्=√श्लाघ्, (भ्वा० आ०) (प्रशंसा करना)+अनीय+आ, द्वि० एक०। सन्ध्याबलि०=सम्यक् ध्यायत्यस्याम् इति, सम्+√ध्यै+अङ् 'सन्ध्या' पटहस्य भावः इति, पटह+तल् 'पटहता' सन्ध्यायाः बलिः (ष० तत्पु०) तस्य पटहताम्। कुर्वन्=√कृ (त० उभ०) शतृ। आमन्द्राणाम्=आ (ईषद्)+मन्द्राणाम् गम्भीराणाम्। अविकलम्=विगताः कलाः यस्मात् तत् विकलम्, न विकलम् इति अविकलम्। लप्स्यसे=√लभ्, भ्वा० आ० (प्राप्त करना) लृट् म० पु० एक० ॥३६॥

विशेषः—महाकालम्=महाकाल उज्जयिनी में एक तीर्थ है, जहां शिवजी की एक मूर्त्ति भी है। यह द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक है। महाकाल शिवजी को भी कहते हैं और उनके तीर्थस्थान का भी यही नाम है। देखिए—रघु० VI ३४ 'असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।'

अत्येति भानुः = इसका पाठान्तर 'अभ्येति भानुः' अर्थात् जब तक सूरज उदय नहीं होता। वे टीकाकार जो इस दूसरे पाठ के पक्ष में हैं, यह नहीं जानते कि बादल का शिवजी की सायं-संध्या की पूजा में भाग लेना और उस रात को वहां विश्राम करना कवि को विवक्षित, है जिससे अगले दिन सूर्योदय होने पर अपनी यात्रा के लिए प्रस्थान कर सके। इस सम्बन्ध में देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४०। यदि यहां प्रातः सन्ध्या विवक्षित होती तो उसके बाद दिन आना चाहिए था न कि रात जैसे श्लोक ३९–४० से प्रकट है।

कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहताम् = महाकाल की पूजा के समय मेघ अपने गम्भीर गर्जन से बजते हुए नगाड़े का काम देगा, यह कवि की कल्पना है ॥३६॥

पादन्यासैः[1] क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचित[2]वलिभिश्चामरैः[3]क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥३७॥

अन्वयः—तत्र पादन्यास-क्वणित-रशनाः लीलावधूतैः रत्न-च्छाया-खचित-वलिभिः चामरैः क्लान्त-हस्ताः वेश्याः त्वत्तः नख-पद-सुखान् वर्षाग्र-बिन्दून् प्राप्य त्वयि मधुकर-श्रेणि-दीर्घान् कटाक्षान् आमोक्ष्यन्ते ॥३७॥

(सं०) पादन्यासैरिति। तत्र संध्याकाले। पादन्यासैश्चरणनिक्षेपैर्नृत्याङ्गैः क्वणिताः शब्दायमाना रशना यासां तास्तथोक्ताः। क्वणतेरकर्मकत्वात् "गत्यर्थाकर्मक–" (३।४।७२) इत्यादिना कर्तरि क्तः। लीलया विलासेनावधूतैः कम्पितैः रत्नानां कङ्कणमणीनां छायया कान्त्या खचिता रूषिता वलयश्चामरदण्डा येषां तैः। "वलिश्चामरदण्डे च जराविश्लथचर्मणि" इति विश्वः। चामरैर्वालव्यजनैः क्लान्तहस्ताः। एतेन देशिकं नृत्यं सूचितम्। तदुक्तं नृत्यसर्वस्वे—"खड्ग कन्दुकवस्त्रादिदण्डिकाचामरस्रजः। वीणां च धृत्वा यत्कुर्यान्नृत्यं तद्देशिकं भवेत् ॥" इति। वेश्या महाकालनाथमुपेत्य नृत्यन्त्यो

१—पादन्यास०। २—रचित। ३—कान्त।

गणिकास्त्वत्तो नखपदेषु नखक्षतेषु सुखान् सुखकरान् । "सुखहेतौ सुखे सुखम्" इति शब्दार्णवे । वर्षस्याग्रबिन्दून् प्रथमबिन्दून् प्राप्य त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षानपाङ्गान् । आमोक्ष्यन्ते । "परैरुपकृताः सन्तः सद्यः प्रत्युपकुर्वते" इति भावः । कामिनीदर्शनीयत्वलक्षणं शिवोपासनाफलं सद्य लप्स्यस इति ध्वनिः ॥ ३७ ॥

पदार्थः—तत्र = वहां (सन्ध्याकाल में) । पादन्यास-क्वणितरशनाः = पैरों की गति के साथ जिनकी करधनियां (मेखलाएं) बजती हैं । लीलावधूतैः = विलासपूर्वक हिलाए गए । रत्नच्छायाखचितवलिभिः = जिसके हत्थे (दस्ते) (कड़ों के) रत्नों की कान्ति से विभूषित हैं । चामरैः=चँवरों से । क्लान्तहस्ताः वेश्याः = थके हुए हाथोंवाला नर्तकियां । नखपदसुखान् = (शरीर पर) नाखूनों के घावों का सुख देनेवाली । वर्षाग्रबिन्दून् = वर्षा की पहली बूंदों को । प्राप्य = प्राप्त करके, पाकर । त्वयि = तुम पर । मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् = भ्रमरों की पंक्तियों के समान लम्बी और तिरछी चितवन । आमोक्ष्यन्ते = छोड़ेंगी, फेंकेंगी ॥३७॥

भाषानुवादः—वहाँ (सांझ के समय) नर्तकियाँ, जिनकी पैरों की गति के साथ-साथ मेखलाएं (करधनियां) झनझनाती रहतीं हैं और जिनके हाथ (कड़ों के) रत्नों की कान्ति से विभूषित हत्थियोंवाले विलास पूर्वक डुलाए गए चँवरों से थक जाते हैं तुमसे नखक्षतों को सुख देनेवाली वर्षा की पहली बूंदों को प्राप्त करके तुम पर भ्रमरों की पङ्क्तियों की तरह लम्बी और तिरछी चितवन फेंकेंगी ॥३७॥

व्याकरणम्—पादन्यासक्वणितरशनाः = पादयोः चरणयोः न्यासैः (नि+√अस् (दि०+घञ् भावे) निक्षेपैः क्वणिताः (√क्वण्+क्त) शब्दायमाना रशना यासां ताः (ब० व्री०) । लीलावधूतैः = लीलया अवधूतैः (अव+√धू+त) कम्पितैः । रत्नच्छायाखचितवलिभिः = रत्नानां कंकणमणीनां छायया

कान्त्या खचिता (खच्+त, कर्मणि) वलयश्चामरदण्डा येषां तैः (ब० व्री०)। क्लान्तहस्ताः = क्लान्तौ हस्तौ यासां ताः (ब० व्री०)। त्वत्तः = तुझ से, त्वत्+तः 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिल् प्रत्ययः। नखपदसुखान = नखानां पदेषु (ष० तत्पु०) क्षतेषु सुखान् सुखकरान् 'सुखहेतौ नखे सुखम् इति' शब्दार्णवे। वर्षाग्रबिन्दून् = अग्रा. बिन्दवः (कर्मधा०) वर्षस्याग्रबिन्दवः (ष० तत्पु०) तान। प्राप्य = प्र+√आप् स्वा० उभ० (पाना, हासिल करना)+य (ल्यप्) मधुकरश्रेणिदीर्घान् = मधुकरा भ्रमराः तेषां श्रेणयः पङ्क्तयः तदवत् दीर्घान्। मधुकर = मधु कुर्वन्ति इति. मधु+√कृ+ट ताच्छील्ये। कटाक्षान् = कटाक्ष का द्वि० बहु०। कटाक्ष—कटौ गण्डौ अतिशयितौ अक्षिणी यत्र। कटं गण्डमक्षतीति वा। वेश्याः = वेशे भवाः √विश+य (दिगादिभ्यो यत्); वेशः कृत्रिम आकारः तेन शोभते 'कर्मवेशाद्यत्' इससे 'य' प्रत्यय हुआ। नखपदसुखान् = नखपदेषु सुखान्। आमोक्ष्यन्ते = आ+मुच्, (तुदा.उभ.), लृट प्र० पु० बहु०।

विशेषः—रत्नच्छायाखचित० = इसका सारो० तथा अन्य टीकाकार निम्नलिखित अर्थ करते हैं—'रत्नच्छायाखचिता वलय उदरलेखास्तासामेव चामरग्राहिणीनां यैस्ते', परन्तु यह सन्तोषजनक नहीं है। इसका असली अर्थ यही है कि नर्तकियों के हाथों में कंगन पहिने हुए थे, जो कि रत्न–जटित थे और रत्नों की कान्ति अर्थात् अक्स उनके हाथों द्वारा डुलाये गये चँवरों के हत्थों पर पड़ता था, जिससे वे रंग-बिरंगे हो जाते थे।

चामरैः = चँवरों से। चँवर या तो चमर-मृगों के गुच्छेदार बालों से या मयूर–पखों से बनती हैं। ये या तो राजाओं के आगे या देवताओं की मूर्तियों के आगे मक्खियां या कीट-पंतगों को हटाने के लिए डोलाई जाती हैं। देखिए—विक्र० IV. ४ व्याधूयन्ते निचुलतरुभिः मञ्जरीचामराणि।

नखपदसुखान्=सारो० ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—'नखपदवत्सुखजनकान् अथवा 'नखपदानां सुखान् इसका अर्थ 'नखपदेषु सुखान्' है।

एवं इसमें 'नखपद' का अर्थ प्रेमियों द्वारा प्रियाओं के शरीर पर किए गए नख घातों (नख के क्षतों) का है। यही अर्थ मल्लि० ने भी किया है। इस बात की पुष्टि जैन टीकाकार ने भी की है। देखिए—'वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदांकितोरवः' रघु० XIX. ३५। और देखिए–शिशु० VII. ३९ 'नखपदलिपयोऽपि दीपितार्था. ....'। पुनः इसी पुस्तक के उत्तर मेघ का श्लोक ३६ 'वामश्चास्याः कररुहपदैः मुच्यमानो मदीयैः' भी देखिए। और देखिए कुमार० III. २९, 'सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्'।

मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् = इसके लिए देखिए—रघु० VII. ११, 'विलोलनेत्रभ्रमरैः गवाक्षाः' ॥३७॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
[1]नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥३८॥

अन्वयः—पश्चात् पशुपते नृत्तारम्भे प्रतिनव-जपा-पुष्प-रक्तम् सान्ध्यं तेजः दधानः उच्चैः भुज-तरु-वनम् मण्डलेन अभिलीनः (सन्) भवान्या शान्तोद्वेग-स्तिमित-नयनम् दृष्टभक्तिः (त्वम्) (तस्य) आर्द्रनागाजिनेच्छाम् हर ॥३८॥

(सं०) पश्चादिति। पश्चात् संध्याबल्यनन्तरम्। पशुपतेः शिवस्य नृत्यारम्भे ताण्डवप्रारम्भे प्रतिनवजपापुष्परक्तं प्रत्यग्रजपाकुसुमारुणं सन्ध्यायां भवं सान्ध्यं तेजो दधानः। उच्चैरुन्नतं भुजा एव तरवस्तेषां वनं मण्डलेन मण्डलाकारेणाभिलीनोऽभिव्याप्तः सन्। कर्तरि क्तः। भवान्या भवपत्न्या।

1—नृत्या०, मल्लि० सारो० इत्यादि।

'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' (४।१।४९) इति ङीष्, आनुगागमश्च। शान्त उद्वेगो गजाजिनदर्शनभयं ययोस्ते अत एव स्तिमिते निश्चले नयने यस्मिन्कर्मणि तत्तथोक्तम्। "उद्वेगस्त्वरिते क्लेशे भये मन्थरगामिनि" इति शब्दार्णवे। भक्तिः पूज्येष्वनुरागः। भावार्थे क्तिन्प्रत्ययः। दृष्टा भक्तिर्यस्य स दृष्टभक्तिः सन्। पशुपतेरार्द्रं शोणितार्द्रं यन्नागाजिनं गजचर्म। "अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री" इत्यमरः। तत्रेच्छां हर निवर्तय। त्वमेव तत्स्थाने भवेत्यर्थः। गजासुरमर्दनानन्तरं भगवान्महादेवस्तदीयमार्द्राजिनं भुजमण्डलेन बिभ्रत्ताण्डवं चकारेति प्रसिद्धिः। दृष्टभक्तिरिति कथं रूपसिद्धिः? 'दृष्ट'शब्दस्य "स्त्रियाः पुंवत्–" (६।३।३४) इत्यादिना पुंवद्भावस्य दुर्घटत्वादपूरणीप्रियादिष्विति निषेधात्। 'भक्ति'शब्दस्य प्रियादिषु पाठादिति। तदेतच्चोद्यं 'दृढभक्तिः' इति शब्दमाश्रित्य प्रतिविहितं गणव्याख्याने दृढं भक्तिरस्येति नपुसकं पूर्वपदम्। अदार्ढ्यनिवृत्तिपरत्वे दृढशब्दाल्लिङ्गविशेषस्यानुपकारित्वात्स्त्रीत्वमविवक्षितमिति। भोजराजस्तु—"भक्तौ च कर्मसाधनायाम्' इत्यनेन सूत्रेण भज्यते सेव्यत इति कर्मार्थत्वे भवानीभक्तिरित्यादि भवति। भावसाधनायां तु 'स्थिरभक्तिर्भवान्याम्' इत्यादि भवति" इत्याह। तदेतत्सर्वं सम्यग्विवेचितं रघुवंशसंजीविन्यां "दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे" (रघु. १२।१९) इत्यत्र तस्माद्दुष्टभक्तिरित्यत्रापि मतभेदेन पूर्वपदस्य स्त्रीत्वेन पुंसकत्वेन च रूपसिद्धिरस्तीति स्थितम्॥ ३८॥

पदार्थः—पश्चात् = सांझ की पूजा के बाद। पशुपतेः = शिव जी के। नृत्तारम्भे = नाच (ताण्डव) के प्रारम्भ में। प्रतिनवजपा० = अभिनव (ताजे) जाई के फूल के समान लाल। सान्ध्यं तेजः = सांझ की कान्ति को। दधानः धारण करता हुआ। उच्चैर्भुज-तरु–वनम् = (शिव जी की) ऊँचे भुजाओं रूपी वृक्षों के जंगल पर। मण्डलेन अभिलीनः = वृत्ताकार रूप से व्याप्त होकर। भवान्या = पार्वती के द्वारा। शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम् = भय के

शान्त हो जाने से निश्चल हुई आँखों से । दृष्टभक्तिः = जिसकी भक्ति देखी गई है । आर्द्रनागाजिनेच्छाम् = हाथी के गीले चर्म (चमड़े) की इच्छा को। हर = दूर करना ॥३८॥

भाषानुवादः—पीछे शिव जी के (ताण्डव) नृत्य के आरम्भ में ताजे जपा (जाई) के फूलों के समान लाल-लाल सायंकालीन कान्ति को धारण करता हुआ, ऊंचे (शिवजी की) भुजा रूपी वृक्षों के जगल पर वृत्ताकार रूप में व्याप्त होकर, पार्वती से भय-रहित आँखों द्वारा टकटकी से देखी गई भक्तिवाला (तू) शिव जी की हाथी के गीले (ताजे) चर्म की इच्छा को दूर करना (अर्थात् स्वयं चर्म का काम देना) ॥३८॥

व्याकरणम्—पशुपतेः = पशूनां पतिः (ष० तत्पु०) तस्य । पतिः समास एव' इससे 'पशुपति' के रूप मुनि के समान होते हैं । नृत्तारम्भे = नृत्तस्यारम्भे । प्रतिनवजपापुष्परक्तम् = प्रतिनवं (नव प्रतिगतः प्रतिनव) प्रत्यग्रं यत् जपा-पुष्पं तद्वद्रक्तमरुणम् । (उपमानकर्मधा०) सान्ध्यम् = सन्ध्याया इदम्, सन्ध्या+अ, तद्धित । तेजस् = नपुं० लिङ्ग० प्र० एक० । दधानः = √धा, (जु० उभ०) (धारण करना)+शानच्, प्र० एक० । कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् । उच्चैर्भुज-तरुवनम् = उच्चैरुन्नतं भुजा एव तरवः (कर्मधा०) तेषां वनम् । अभिलीनः = अभि+√ली, (दिवा०आ०, लेटना)+न (त) कर्त्तरि । भवान्या = भवानी का तृ० एक० । भवस्य पत्नी इति, भव+आनुक्+ङीष्, भवानी तया । शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम् = शान्त उद्वेगो गजाजिनदर्शनभयं ययोस्ते अत एव स्तिमिते निश्चले नयने यस्मिन्कर्मणि यथा स्यात् तथा (क्रि० वि०) । दृष्टभक्तिः = दृष्टा भक्तिर्यस्य सः । आर्द्रनागाजिनेच्छाम् = आर्द्रं यन्नागा-जिनं गजचर्म तत्रेच्छा ताम् । हर = √हृ, (भ्वा० उभ०, ले जाना), लोट्, म० पु० एक० ।

विशेषः—नृत्तारम्भे = 'नृत्त' उस नाच को कहते हैं, जिसमें केवल ताल

और लय का साथ हो, तथा 'नृत्य' वह नाच है, जिसमें अभिनय द्वारा मानसिक भावों की अभिव्यक्ति हो। देखिए—द० रू० 'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताल-लयाश्रयम्'। तुलना कीजिए 'देवरुच्या प्रतीतो यस्ताल-मानरसाश्रितः। सविलासादङ्गविक्षेपो नृत्यमित्युच्यते बुधैः'। मल्लि० ने यहां 'नृत्त' के स्थान पर 'नृत्य' पाठान्तर दिया है। 'नृत्य' वाला पाठ इस विचार से अच्छा है।

आर्द्रनागाजिनेच्छाम्=गजासुर के मारने के बाद महादेव जी ने रुधिर से गीली उसकी खाल को अपनी ऊँची भुजाओं पर लपेट कर 'ताण्डव नृत्य' किया था। यहां पर मेघ से कहा जाता है कि वह गजासुर की गीली खाल का स्थानापन्न हो कर शिव जी की उस खाल के प्रति उत्पन्न हुई इच्छा को पूरा करे। गजासुर के गीलेचर्म को ओढ़े हुए शिव जी को देखकर पार्वती डर जाती हैं और उनका 'ताण्डव' नहीं देख सकतीं। यदि बादल लाल-लाल होकर उमड़ आये, तो शिवजी 'नागाजिन' न ओढ़ कर ही नाचेंगे और पार्वती भी निर्भय होकर नाच देखती रहेंगी। इस सम्बन्ध में देखिए कुमा० V. ६७ तथा ७८ श्लोक 'गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च' और 'गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा'। और देखिए—माल० मा० V. २३ 'प्रचलितकरिकृत्तिपर्यन्तचञ्चन्नखाघात.........'।

दृष्टभक्तिः=यह कालिदास के व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों में से एक प्रयोग है। पाणिनि के नियमानुसार 'दृष्टभक्तिः' प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि 'दृष्टा भक्तिर्यस्य सः' इस तरह बहुव्री० समास में 'दृष्टा' को पुंवद्भाव नहीं हो सकता। कारण यह है कि पुंवद्भाव-विधायक 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी प्रियादिषु' यह सूत्र प्रियादियों से भिन्न शब्दों के परे रहने ही पुंवद्भाव करता है और 'भक्ति' शब्द प्रियादियों में आ जाता है, इसलिए 'दृष्टाभक्तिः' ऐसा ही प्रयोग व्याकरण से बनता है। इसी तरह कालिदास ने रघुवंश सर्ग XII. श्लोक १६ में भी 'दृढभक्तिः' लिख कर

तथा अन्यत्र भी व्याकरण का उक्त नियम भंग किया है। किन्तु वासुदेव दीक्षित सिद्धान्तकौमुदी की टीका 'बालमनोरमा' में तथा मल्लि० ने अपनी टीका में इन प्रयोगों को व्याकरण-सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं— वे दृष्ट' और 'दृढ' शब्दों में स्त्रीलिङ्ग न रखकर इनको भक्ति का विशेषण नहीं मानते, प्रत्युत विशेष्य मानते हैं। 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियम के आधार पर 'दृष्टम्' (देखी हुई वस्तु) है भक्ति जिसकी, दृढ़-वस्तु है भक्ति जिसकी इस तरह '(प्रमाणम् वेद:' जैसे) दृष्ट और दृढ शब्दों को और भक्ति शब्द को विभिन्नलिङ्ग रखकर 'दृष्टभक्तिः' और 'दृढभक्तिः' को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध ही मानते हैं पर यह खींचातानी ही है जो कि संभवतः कवि को विवक्षित न हो। देखिए-'स्त्रियाः पुंवद्भाषित ……' सूत्र पर बाल-मनोरमा और उल्लिखित श्लोकों पर मल्लि० की टीका।

'भुज तरु-वनम्' में रूपक और 'सान्ध्यं तेजः दधानः' में निदर्शना अलंकार है। रूपक का लक्षण पहले दिया जा चुका है। निदर्शना का लक्षण इस प्रकार है--सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना (सा०द०)। अर्थात् जहां संभव अथवा असंभव वस्तुसम्बन्ध बिम्बप्रतिबिम्ब भाव को बतावे अर्थात् अन्ततो गत्वा सादृश्य में पर्यवसित हो वहां 'निदर्शना' अलंकार होता है। और प्रकृत में सान्ध्य तेज सन्ध्या में ही रह सकता है मेघ में नहीं, अतः 'सान्ध्यं तेज इव तेजः दधानः' यों अन्त में सादृश्य प्रकट होता है।

इत्थं महाकाल-नाथस्य सेवाप्रकारमभिधाय पुनरपि नगर-संचार-प्रकारमाह--

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र [१]नक्तं

रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।

१—रात्रौ विल्स०।

सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया[1] दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो[2] मा च[3] भूर्विक्लवास्ताः ॥३९॥

अन्वयः---तत्र (उज्जयिन्याम्) नक्तम् रमण—वसतिं गच्छन्तीनाम् योषिताम् सूचिभेद्यैः तमोभिः रुद्धालोके नर-पति-पथे कनक–निकष-स्निग्धया सौदामन्या उर्वीम् दर्शय; तोयोत्सर्ग-स्तनित–मुखरः च मा भूः (यतः) ताः विक्लवाः ॥ ३९ ॥

(सं०) गच्छन्तीनामिति । तत्रोज्जयिन्यां नक्तं रात्रौ रमणवसतिं प्रियभवनं प्रति गच्छन्तीनां योषिताम् । अभिसारिकाणामित्यर्थः । सूचिभिर्भेद्यैः । अतिसान्द्रैरित्यर्थः । तमोभी रुद्धालोके निरुद्धदृष्टिप्रसारे नरपतिपथे राजमार्गे कनकस्य निकषो निकष्यत इति व्युत्पत्त्या निकष उपलगतरेखा तस्येव स्निग्धं तेजो यस्यास्तया । "स्निग्ध तु मसृणे सान्द्रे रम्ये क्लीबे च तेजसि" इति शब्दार्णवे । सुदाम्नाद्रिणैकदिक् सौदामनी विद्युत । "तेनैकदिक" (४।३।११२) इत्यणप्रत्ययः, तया । उर्वीं मार्गं दर्शय । किञ्च तोयोत्सर्गस्तनिताभ्यां वृष्टि-गर्जिताभ्यां मुखरः शब्दायमानो मा स्म भूः । कुतः ? ता योषितो विक्लवा भीरवः तता वृष्टिगर्जिते न कार्ये इत्यर्थः । नात्र तोयोत्सर्गसहितं स्तनितमिति विग्रहः । विशिष्टस्येव केवलस्तनितस्याप्यनिष्टत्वात । न च द्वन्द्वपक्षेऽल्पा-च्तरपूर्वनिपातशास्त्रविरोधः "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (३।२।१२६) इति सूत्र एव विपरीतनिर्देशेन पूर्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वज्ञापनादिति ॥ ३९ ॥

पदार्थः—तत्र=उज्जयिनी में । नक्तम्=रात को । रमण–वसतिम्=प्रेमियों के घरों को । गच्छन्तीनाम्=जाती हुई । योषिताम्=स्त्रियों के । सूचिभेद्यैस्तमोभि.=बहुत घने अन्धकार से, घुप अंधेरे से । रुद्धालोके=दिखाई देने से रुक जाने पर, न दिखाई देने पर । नरपतिपथे=राजमार्ग के, सड़क के । कनक–निकष–स्निग्धया=कसौटी पर सोने की रेखा के समान चमकने

१—···च्छायया विल्स० २—विमुखः । ३—स्म, मल्लि इत्यादि ।

वाली । सौदामन्या=बिजली से । उर्वीम=पृथ्वी को (मार्ग को) दर्शय= दिखाना । तोयोत्सर्ग-स्तनित-मुखर:=वृष्टि तथा गर्जन से शब्दायमान । मा भू:=मत होना । ता: विक्लवा:=वे डरपोक होती हैं ॥ ३९ ॥

भाषानुवाद:—वहाँ (उज्जयिनी में) रात को (अपने) प्रेमियों के घरों को जाती हुई स्त्रियों को घने अन्धकार से न दिखाई देनेवाले राजमार्ग में कसौटी पर सोने की रेखा के समान चमकनेवाली बिजली द्वारा रास्ता दिखाना और बरसने एवं गरजने का शब्द न करना, क्योंकि वे डरपोक होती हैं ॥ ३९ ॥

व्याकरणम्—नक्तम्—अव्यय। रमण-वसतिम्=रमणानां वसतिम् (ष० तत्पु०) । गच्छन्तीनाम्=√गम्, (भ्वा० प०) (जाना)+अत् (शतृ) स्त्री० ष० बहु० । योषिताम्=योषित् का ष० बहु० । रुद्धालोके=रुद्ध आलोक: (आ+√लोक्+घञ् करणे) यस्मिन् तस्मिन् (ब० व्री०) । नरपतिपथे= नरपते: पथि (ष० तत्पु०)., पथिन् शब्द को समास में 'अ' (टच्) हो जाता है और इसके रूप 'राम' शब्द की तरह चलते हैं। सूचिभेद्यै:=सूचिभि: भेद्यै: (ष० तत्पु०) । तमोभि:=तमस् (नपुं०) तृ० ब० अनुक्ते कर्मणि तृतीया । कनक-निकष-स्निग्धया=कनकस्य स्वर्णस्य निकष: उपलगतरेखा तद्वत् स्निग्धया । सौदामन्या=सौदामनी का तृ० एक० । सुदाम्नि मेघे भवा, (सुदा-मन्—पर्वत तथा ऐरावत का भी नाम है) । उर्वीम्=उर्वी का द्वि० एक० । दर्शय=√दृश्, (भ्वा०प०) णिच्, लोट्, म०पु० ए० । तोयोत्सर्गस्तनितमुखर: =तोयस्य उत्सर्ग: तोयोत्सर्गेण तोयोत्सर्गसहितेन स्तनितेन (मध्यमपदलो० समास) मुखर:, अथवा तोयोत्सर्गेण च स्तनितेन च मुखर: (द्वन्द्व) । मा भू:= 'माङि लुङ्' 'न माङ् योगे' इनसे 'आट्' आगम का प्रतिषेध हुआ। देखिए — पूर्वमेघ श्लोक २८ जहां 'मा स्म भू:' इस प्रकार का प्रयोग आया है ॥ ३९ ॥

विशेष:—रमणवसतिं गच्छन्तीनां योषिताम्=यहां अभिसारिका स्त्रियों से

अभिप्राय है। देखिए—'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साऽभिसारिका' अमर०। और देखिए—सा० द० ११५। कवियों ने अभिसारिकाओं को बिजली के प्रकाश में रात का अपना रास्ता खोजनेवाली बताया है। देखिए—ऋतु० II. १० 'सुतीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनतां पयोमुचां घनान्धकारावृतशर्वरीष्वपि। तडित्प्रभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः॥'

सूचिभेद्यैः = इतना प्रगाढ (अन्धकार) जो कि सुई से छेदा जा सके (pitch dark Inkydark)। पंजाबी में इसके लिए 'अन्धेरा घुप' मुहावरा है। इस विषय में सारो० का कथन है—'अतिनिबिडत्वात्तमसां कविसमये सूचिभेद्यत्वमिष्यते। औपचारिकोऽयं धर्मः।'

कनकनिकषस्निग्धया = इसमें मल्लि० ने 'स्निग्ध' शब्द को विशेषण न मानकर विशेष्य माना है और इसका अर्थ 'तेज' लेकर ब० व्री० समास माना है। इसकी पुष्टि में शब्दार्णव की इस पंक्ति का प्रमाण दिया है—'स्निग्धे तु मसृणे सान्द्रे रम्ये क्लीबे च तेजसि', परन्तु 'स्निग्ध' का साधारण अर्थ 'रम्य' (चमकनेवाला) लिया जाना ही ठीक है। सारो० ने यह व्याख्या की है—कषोपलस्फुरत्कांचनरेखासवर्णया। देखिए—विक्र० IV. १ 'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोर्वशी'। और देखिए—हितोपदेश 'तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्'। विल्सन के अनुसार इसका पाठान्तर 'कनकनिकषच्छायया' है। परन्तु अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं प्रतीत होता। निकष = निकष्यते इति, नि+√कष्+अच् या घञ् कर्मणि।

दर्शयोर्वीम्=देखिए ऋतुसं० II. ४०।

चौथे पाद में 'मा च भूः' के स्थान में मल्लि० आदि ने 'मा स्मभूः' पाठ दिया है किन्तु 'च' वाला पाठ उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इस श्लोक में 'दर्शय' 'मा भूः' दो क्रिया शब्दों के संयोजक 'च' की आवश्यकता है। यहां काव्यलिङ्ग अलंकार है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे

काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' अर्थात् जहां किसी बात का कारण बताया जाय वहां काव्यलिङ्ग होता है। प्रस्तुत श्लोक में 'मत गरजना' इसका कारण बताया है कि स्त्रियां डरपोक होती हैं ॥ ३९ ॥

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ४० ॥

अन्वयः—चिर-विलसनात् खिन्न-विद्युत्कलत्रः सुप्त-पारावतायां कस्याञ्चित् भवन-वलभौ तां रात्रिं नीत्वा सूर्ये दृष्टे (सति) भवान् पुनरपि अध्वशेषम् वाहयेत्। सुहृदाम् अभ्युपेतार्थ कृत्याः न खलु मन्दायन्ते ॥ ४० ॥

(सं०) तामिति। चिरं विलसनात्स्फुरणात्खिन्ना विद्युदेव कलत्रं यस्य स भवान् सुप्ताः पारावताः कलरवा यस्यां तस्याम्। विविक्तायामित्यर्थः। "पारावतः कलरवः कपोतः" इत्यमरः। जनसंचारस्तत्रासंभावित एवेति भावः। कस्यांचिद्भवनवलभौ। गृहाच्छादनोपरिभाग इत्यर्थः। "आच्छादनं स्याद्वलभी गृहाणाम्" इति हलायुधः। तां रात्रिं नीत्वा सूर्ये दृष्टे सति। उदिते सतीत्यर्थः। पुनरप्यध्वशेषं वाहयेत्। तथा हि—सुहृदां मित्राणामभ्युपेतार्थस्याङ्गीकृतार्थस्य प्रयोजनस्य कृत्या क्रिया यैस्ते। अभ्युपेतसुहृदर्था इत्यर्थः। सापेक्षत्वेपि गमकत्वात्समासः। "कृत्या क्रियादेवतयोः कार्ये स्त्री कुपिते त्रिषु" इति यादवः। "कृञः श च" (३।३।१००) इति चकारात्क्यप्। न मन्दायन्ते खलु न मन्दा भवन्ति हि। न विलम्ब इत्यर्थः। "लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" (३।१।१३) इति क्यष्। "वा क्यषः" (१।३।९०) इत्यात्मनेपदम ॥ ४० ॥

पदार्थः—चिरविलसनात् = देर तक चमकते रहने से। खिन्नविद्युत्कलत्रः = जिसकी बिजली रूपी स्त्री थक गई है। सुप्तपारावतायाम् = जिस पर कबूतर

सोए हुए हों ऐसे। कस्याञ्चित् = किसी। भवनवलभौ = घर की छत पर। तां रात्रिं = उस रात को। नीत्वा = बिता कर। सूर्ये दृष्टे (सति) = सूर्य के निकलने पर। अध्वशेषं = बाकी के मार्ग को। वाहयेत् = पूरा करना। सुहृदाम् अभ्युपेतार्थकृत्याः = जिन्होंने मित्रों के प्रयोजन की बात स्वीकार कर रखी है। न मन्दायन्ते खलु = कभी शिथिल नहीं होते ॥ ४० ॥

भाषानुवादः—देर तक चमकते रहने के कारण थकी हुई बिजली-रूपी स्त्रीवाले तुम उस रात्रि को किसी घर की छत पर, जहां कबूतर सोते हों, बिता कर सूर्य के दिखाई देने पर शेष मार्ग को पार करना। मित्रों के प्रयोजन की बात को स्वीकार कर रखनेवाले कभी ढीले नहीं पड़ते ॥ ४० ॥

व्याकरणम्—चिरविलसनात् = चिरं विलसनं तस्मात्। खिन्नविद्युत्कलत्रः = खिन्नं विद्युदेव कलत्रं यस्य सः (ब० व्री०)। सुप्तपारावतायाम् = सुप्ताः √स्वप्, (अ० प०)+क्त, कर्त्तरि। पारावता यस्यां सा तस्याम्। (बहुव्री०) पारावत—पारे आपतति इति पारावतः। कस्याञ्चित् = किम् की स्त्रीलि० स० एक०+चित। भवनवलभौ = भवनस्य वलभौ आच्छादने। अध्वशेषम् = अध्वनःशेषम। वाहयेत् = √वह (भ्वा. प.)+णिच विधिलिङ्, प्र० पु० एक०। इसका कर्त्ता 'भवान्' है। सुहृदाम् = सुष्ठु हृदयं यस्यासौ सुहृत् तेषाम्। सु और दुर् के बाद 'हृदय' 'हृद्' में बदल जाता है। देखिए—'सुहृद दुहृदौ मित्रामित्रयोः' अष्टा० V. ४. १५०। अभ्युपेतार्थकृत्याः = अङ्गीकृताऽर्थस्य प्रयोजनस्य कृत्या क्रिया यैस्ते; 'कृत्या क्रियादेवतयोः कार्ये स्त्री कुपिते त्रिषु' इति यादवः। अभ्युपेत = अभि+उप+√इ, (अ०प०)+क्त। खलु--अवधारणे (Certainty) अव्यय। मन्दायन्ते = मन्द से क्यष् प्रत्यय लगकर नामधातु (Devominative) बना 'वा क्यषः' से आत्मनेपद।

विशेषः—भवनवलभौ = सरस्वती० कहना है-'वलभौ उपरितलभूमौ'। देखिए—'सौधान्यत्यर्थतापाद्वलिभिपरिचयद्वेषिपारावतानि' माल० II. १२;

'धूपैर्जाल-विनिसृतैर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः' विक्र० III. २. पुनरपि = जो श्लोक ३६ में 'अत्येति' के स्थान पर 'अभ्येति' पाठ के पक्ष में हैं वे इस शब्द को 'दृष्टे सूर्ये' के साथ लगाते हैं; परन्तु मल्लि० इसको 'वाहयेत्' के साथ रखते हैं। यह अच्छा अर्थ मालूम होता है। इसके लिए मेघदूत श्लोक ३६ के 'विशेष' स्तम्भ की टिप्पणी देखिए।

सुहृदामभ्युपेयार्थकृत्याः = यह समास 'अभ्युपेतसुहृदर्थकृत्याः' इस प्रकार होना चाहिए था। मल्लि० ने पतञ्जलि के महाभाष्य के आधार पर 'सापेक्षत्वेपि गमकत्वात्समासः' कह कर उपर्युक्त समास का समर्थन किया है। देखिए—मुद्रा० II. १८ 'किन्वङ्गीकृतमुत्सृजन्कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते। निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामतद्धिगोत्रव्रतम्'।

दूसरे पाद में रूपक अलङ्कार है। अन्तिम पाद में अर्थान्तरन्यास अलंकार है॥ ४०॥

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्रं कमल[1]वदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः॥४१॥

अन्वयः—तस्मिन् काले प्रणयिभिः खण्डितानां योषितां नयन-सलिलं शान्तिम् नेयम्, (अतः) भानोः वर्त्म (त्वं) आशु त्यज। सः अपि नलिन्याः कमलवदनात् प्रालेयास्रम् हर्तुम् प्रत्यावृत्तः (सन्) त्वयि कर-रुधि (सति) अनल्पाभ्यसूयः स्यात्॥ ४१॥

(सं०) तस्मिन्निति। तस्मिन्काले पूर्वोक्ते सूर्योदयकाले प्रणयिभिः प्रियतमैः खण्डितानां योषितां नायिकाविशेषाणाम्। "ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्ड-

---

१ नयनात् सु० वि०।

तेर्ष्याकषायिता" इति दशरूपके (२।२५)। **नयनसलिलं शान्ति नेयं नेतव्यम्।** नयतिर्द्विकर्मकः। अतो हेतोर्भानोर्वर्त्माशु शीघ्रं **त्यज**। तस्यावरको मा भूरित्यर्थः। विपक्षेऽनिष्टमाचष्टे—सोऽपि भानुः। नलान्यम्बुजानि यस्याः सन्तीति नलिनी पद्मिनी। "तृणेऽम्बुजे नलं ना तु राज्ञि नाले तु न स्त्रियाम्" इति शब्दार्णवे। तस्याः स्वकान्तायाः कमलं स्वकुसुममेव वदनं तस्मात्। **प्रालेयं** हिममेवास्रमश्रु हर्तुं शमयितुं प्रत्यावृत्तः प्रत्यागतः। नलिन्याश्च भर्तुर्भानोर्देशान्तरे नलिन्यन्तरगमनात्खण्डितत्वमित्याशयः। ततस्त्वयि। करानंशून् रुणद्धीति **कररुत्**। क्विप्। तस्मिन्कररुधि सति। हस्तरोधिनि सतीति च गम्यते। "बलिहस्तांशवः कराः" इत्यमरः अनल्पाभ्यसूयोऽधिक-विद्वेषः स्यात्। प्रायेणेच्छाविशेषविघाताद्द्वेषो रोषविशेषश्च कामिनां भवतीति भावः। किंच "आत्मानं चार्कमीशानं विष्णुं वा द्वेष्टि यो जनः। श्रेयांसि तस्य नश्यन्ति रौरवं च भवेद्ध्रुवम्।" इति निषेधात्कार्यहानिर्भवि-ष्यतीति ध्वनिः॥ ४१॥

पदार्थः—तस्मिन् काले = उस समय (सूर्योदय के समय)। प्रणयिभिः = प्रेमियों के द्वारा। खण्डितानाम् = विश्वासघात किए जाने के कारण ईर्ष्या से जली-भुनी। योषिताम् = नायिकाओं के (स्त्रियों के)। नयन-सलिलम् = आँसुओं को। शान्ति नेयम् = शान्त करना है। भानोः वर्त्म आशु त्यज = सूर्य के मार्ग को शीघ्र छोड़ देना अर्थात् उसको न ढांपना। सोऽपि = वह (सूर्य) भी। नलिन्याः कमलवदनात् = पद्मिनी के कमल-रूपी मुख से। प्राले-यास्रं हर्तुम् = ओस-रूपी आँसुओं को दूर करने (पोंछने) के लिए। प्रत्या-वृत्तः = वापिस आया हुआ। त्वयि कररुधि (सति) = (सूर्य के) किरण-रूपी हाथों को रोक देनेवाले तेरे प्रति। अनल्पाभ्यसूयः = बहुत अधिक द्वेषवाला। स्यात् = हो जाय॥ ४१॥

भाषानुवादः—उस (सूर्योदय क) समय **प्रेमियों ने** अपनी खंडिता नायि-

काओं के आँसुओं को शान्त करना है, (इसलिए) तू सूर्य का मार्ग छोड़ देना। वह (सूर्य) भी नलिनी के कमल-रूपी मुख से ओस-रूपी आँसुओं को दूर करने (पोंछने) के लिए लौट आया है। (सूर्य के) किरण-रूपी हाथों को रोक देनेवाले तेरे प्रति (संभवतः) वह अत्यधिक द्वेष रखने लग जाय ॥४१॥

व्याकरणम्—प्रणयिभिः = प्रणय+इन, प्रणयिन् का तृ० बहु०। खण्डितानाम् = √खण्ड्, (चु०प०)+त (क्त)। योषिताम् = योषित् शब्द का ष० बहु०। नयन-सलिलम् = नयनयोः सलिलम् (ष० तत्पु०)। नेयम् = √नी, (भ्वा० उभ०)+य (कृत्यप्रत्यय) √नी द्विकर्मक है, (१) नयन-सलिलम् (२) शान्तिम्। वर्त्म = वर्त्मन् नपुं०। आशु = अव्यय। त्यज = √त्यज (भ्वा०प०) छोड़ना), लोट म० पु० एक०। नलिन्याः = नलिनी का ष० एक० नलिनी = नलानि-अम्बुजानि सन्ति अस्या इति नलिन्+ङीप्। कमल वदनात् = कमलम् एव वदनं, तस्मात् (कमधा०)। प्रालेयास्रम् = प्रालेयं (प्र+√ली+अच् भावे, प्रलये भवमिति+प्रलय+अण्), हिममेवास्रमश्रु। हर्तुम् = √हृ, (भ्वा. उभ.) (ले जाना)+तुमुन्। प्रत्यावृत्तः = प्रति+आ+√वृत्, (भ्वा० आ०)+क्त, प्र० एक०। कररुधि = करं रुणद्धि इति (कर+√रुध्+क्विप्), स० एक०। अनल्पाभ्यसूयः = न अल्पा अनल्पा (नञ् तत्पु०), अनल्पा अभ्यसूया यस्य सः (बहुव्री०)। स्यात् = √अस्, (अ०प०) (होना) वि० लिङ् प्र० पु० एक०।

विशेष:—खण्डितानाम् = खण्डिता नायिका की परिभाषा दशरूपक में इस प्रकार है—'ज्ञातेऽन्यासंग-विकृते खण्डितेर्ष्या-कषायिता'। अर्थात जो स्त्री अपने पति को ऐसा जान कर कि उसने अन्य स्त्री के साथ सहवास किया है, ईर्ष्या और क्रोध से जली-भुनी निराश हो बैठी हो—'खण्डिता' कहाती है। ऐसी स्त्री को पति चाटुवचनों से प्रसन्न करना है। देखिए—पूर्वमेघ श्लो० ३१ में 'प्रार्थनाचाटुकारः' विषयक पदार्थ भाग; और देखिए रघु० V ६७ 'निद्रावशेन भवताप्यनवेक्षमाणा पर्युत्सुकत्वमबलानिशि खण्डितेव'।

नलिन्याः=नलिनी का अर्थ पद्मिनी या कमलिनी=कमल-लता है। व्याकरण से इस शब्द की व्युत्पत्ति नलानि सन्ति यस्याः है; नल और नलिन् दोनों शब्दों का अर्थ कमल है. देखिए शब्दार्णवः—"तृणेऽम्बुजे नलं ना तु राज्ञि नाले तु न स्त्रियाम्" देखिए—'सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नाम्' कुमा० III. ७६; और देखिए—'नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जलसंघात इवासि विद्रुतः' कुमा० IV. ६; 'न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति' मृच्छ० IV. १७।

भर्ता सूरज के दूसरे लोक में चले जाने पर वहां दूसरी नलिनी से सहवास होने के कारण इस लोक की नलिनी खण्डिता हो गई।

अनल्पाभ्यसूयः=जब कोई व्यक्ति कुछ करना चाहता है और दूसरा उसको ऐसा करने से रोकता है, तो उनका परस्पर विद्वेष हो जाना स्वाभाविक ही है, इसलिए बादल को कहा गया है कि वह नलिनी के मुख की ओर बढ़ाए हुए सूर्य के 'कर' (किरणों) को न रोके। साथ ही सूर्य से विद्वेष करना शास्त्रों में निषिद्ध है, क्योंकि सूर्य-विद्वेष से पाप और साथ ही बड़ी हानि भी होती है। देखिए मल्लि० की टीका। 'अभ्यसूया' का अर्थ ईर्ष्या अथवा क्रोध है। देखिए रघु० VI. ७४ 'शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः'।

कमलवदनात्=सुमति विजय ने 'कमलवदनात्' के स्थान में—कमलनयनात्' पाठ दिया है। इस पाठ के देने से संभवतः उसका यह विचार हो कि आँसू 'नयन' में ही रहते हैं; किन्तु हमें 'कमल-वदनात् वाला पाठ ही अच्छा लगता है, क्योंकि नलिनी-लता तो नायिका बन गई, फिर 'वदन' भी तो उसका चाहिए; आँखें बिना वदन के हो भी नहीं सकती, वदन पर आँसू पड़ता ही है और उसे ही पोंछते हैं न कि आँख में का आँसू।

कररुधि त्वयि=किरण-रूपी हाथों को रोकनेवाले तुझ से। यहां पर 'कर' शब्द में श्लेष है 'कर' को किरण और हाथ भी कहते हैं।

इस श्लोक में 'कमल' में 'वदनत्व' का 'प्रालेय' में 'अस्रत्व' का और

'कर' (किरणों) में 'करत्व' (हस्तत्व) का आरोप होने से साङ्ग-रूपक अलंकार है, परन्तु वह 'नलिनी' में 'नायिकात्व' और सूर्य में 'नायकत्व' का आरोप आर्थ होने के कारण एक-देश-विवर्ति ही है, समस्त वस्तु विषयक नहीं ॥४१॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने निर्मल
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
तस्मादस्याः[1] कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्त्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४२॥

अन्वयः—गम्भीरायाः सरितः प्रसन्ने चेतसि इव (प्रसन्ने) पयसि प्रकृति-सुभगः ते छायात्मा अपि प्रवेशम् लप्स्यते; तस्मात् अस्याः (गम्भीरायाः) कुमुद-विशदानि चटुल-शफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि धैर्यात् मोघीकर्त्तुम् न अर्हसि ॥

(सं०) गम्भीराया इति। गम्भीरा नाम सरित् उदात्तनायिका च ध्वन्यते। तस्याः प्रसन्नेऽनुरक्तत्वाद्दोषरहिते चेतसीव प्रसन्नेऽतिनिर्मले पयसि। प्रकृत्या स्वभावेनैव सुभगः सुन्दरः। "सुन्दरेऽधिकभाग्ये च दुर्दिनेतरवासरे। तुरीयांशे श्रीमति च सुभगः" इति शब्दार्णवे। ते तव छाया चासावात्मा च। सोऽपि प्रतिबिम्बशरीरं च प्रवेशं लप्स्यते। 'अपि' शब्दात्प्रवेशमनिच्छोरपीति भावः। तस्माच्छायाद्वारापि प्रवेशावश्यंभावित्वादस्या गम्भीरायाः। कुमुदवद्विशदानि धवलानि चटुलानि शीघ्राणि शफराणां मीनानां उद्वर्तनान्युल्लुण्ठनान्येव प्रेक्षितान्यवलोकनानि। "त्रिषु स्याच्चटुलं शीघ्रम्" इति विश्वः। एतावदेव गम्भीराया अनुरागलिङ्गम्। धैर्याद्धाष्टर्यात्। वैयात्यादिति यावत्। मोघीकर्तुं विफलीकर्तुं नार्हसि। नानुरक्ता विप्रलब्धव्येत्यर्थः। धूर्तलक्षणं तु—"क्लिश्नाति नित्यं गमितां कामिनीमतिसुन्दरः। उपैत्यरक्तां यत्नेन रक्तां धर्तो विमुञ्चति ॥" इति ॥ ४२ ॥

[1]—तस्याः ।

पदार्थः—गम्भीरायाः सरितः=गम्भीरा नाम की नदी के। प्रसन्ने चेतसीव (प्रसन्ने) पयसि=प्रसन्न (प्रेम के कारण आनन्द भरे) मन के समान (प्रसन्न) स्वच्छ जल में। प्रकृतिसुभगः=स्वभाव से सुन्दर। ते छायात्मापि=तेरी प्रतिबिम्बरूप आत्मा भी। प्रवेशम् लप्स्यते=प्रवेश प्राप्त करेगी। कुमुद-विशदानि=कुमुद के समान सफेद। चटुल-शफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि=मछलियों के शीघ्रतापूर्ण (फुर्तीले) उच्छलन-रूपी चितवनों को। धैर्यात्=धीरता से। मोघी कर्त्तु नार्हसि=निष्फल करने योग्य नहीं, अर्थात् उन्हें बेकार नहीं जाने देना चाहिए ॥४२॥

भाषानुवादः—गम्भीरा नदी के प्रसन्न (निर्मल) जल के भीतर तेरी स्वभावतः सुन्दर प्रतिबिम्ब-रूपी आत्मा यों प्रवेश करेगी जैसे कि प्रसन्न (प्रेम के कारण आनन्द भरे) (नायिका के) हृदय में (नायक प्रवेश करता है)। अतः इस (गम्भीरा) की मछलियों की कुमुदों जैसी सफेद फुर्तीली उच्छलन—(लुड़कन) रूपी चितवनों को धीरता के कारण निष्फल मत जाने देना ॥४२॥

व्याकरणम्—सरितः=सरित् शब्द की ० एक०। प्रसन्ने=प्र+√सद् (भ्वा० प०)+न (क्त), स० एक०। पयसि=पयस् शब्द की स० एक०। प्रकृति-सुभगः=प्रकृत्या स्वभावेन सुभगः सुन्दरः (तृ० तत्पु०)। ते=युष्मत् की ष० एक०; यह वैकल्पिक रूप है—दूसरा रूप 'तव' है। छायात्मा=छाया चासौ आत्मा च (कर्मधा०)। प्रवेशम्=प्र+√विश् (तु० प०)+अ (घञ्)। लप्स्यसे=√लभ्, (भ्वा० आ०) (प्राप्त करना) लृट्, म० पु० एक०। कुमुद-विशदानि=कुमुदानि इव विशदानि धवलानि; 'उपमानानि सामान्यवचनैः' से उपमित समास हुआ। मल्लि० इसका कुमुद्वत्विशदानि विग्रह करता है, परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वति प्रत्यय क्रिया के होने पर होता है। देखिए पाणिनि का सूत्र—"तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः"। चटुल-शफरोद्वर्तन०=चटुलानि शीघ्राणि (त्रिषु स्याच्चटुलं शीघ्रम् इति विश्वः)

शफराणां मीनानामुद्वर्तनान्युल्लुण्ठनान्येव प्रेक्षितान्यवलोकितानि कर्मधा०। मोघीकर्त्तुं = मोघ+च्वि+√कृ (त०उभ०)+तुमुन्। अर्हसि = √अर्ह् (भ्वा० प०), लट्, म० पु० एक० ॥४२॥

विशेषः—गम्भीरायाः = गम्भीरा नाम की एक छोटी नदी मालव में है। जिनसेन ने आदि पुराण के अध्याय २४ में इसका वर्णन किया है। गम्भीरा उत्कृष्ट गुणोंवाली एक स्त्री को भी कहते हैं, जो अपने प्रेम को प्रकट नहीं करती।

प्रसन्ने पयसि=साफ, निर्मल, पारदर्शक। देखिए—उत्तर० I, 'प्रसन्न-पुण्यसलिला भगवती भागीरथी'।

छायात्मापि = सारोद्धा० की इस पर यह व्याख्या है—'छाया प्रतिबिम्बं तद्रूप आत्मा'। सरस्वती० कहता है—'छायात्मापि प्रतिबिम्बमपि साक्षात्त्व-दीयस्तावत्तिष्ठतु तव प्रतिबिम्बमपि लप्स्यत इति शब्दार्थः'। इसका अभिप्राय यह है कि तुम्हारा तो क्या बल्कि तुम्हारा प्रतिबिम्ब भी जल में प्रवेश करेगा।

धैर्यात् = इसका अर्थ मल्लि० ने धार्ष्ट्यात् (ढिठाई से) किया है, परन्तु यह विचित्र सा प्रतीत होता है। बल्लभ तथा अन्य टीकाकार इसका गाम्भीर्यात् या धीरत्वात् (आत्मसंयम अथवा मन की दृढ़ता के कारण) अर्थ कहते हैं। ये अर्थ 'धूर्तता के कारण' की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक लगते हैं।

यहां जल का चित्त के साथ और प्रेक्षित (चितवन) का कुमुद के साथ सादृश्य बतलाने से उपमा है, परन्तु यह एक देश-विवर्तिनी है क्योंकि गम्भीरा का नायिका के साथ सादृश्य कवि ने 'आर्थ' रखा है, शफरोद्वर्तनों में प्रेक्षितत्व का आरोप होने से रूपक भी है ॥४२॥

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
[1]हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।

१—नीत्वा।

प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो [1]विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४३॥

अन्वयः—(हे) सखे ! प्राप्त-वानीर-शाखम् किञ्चित् करधृतम् इव मुक्त-रोधो-नितम्बम् नीलम् तस्याः सलिल-वसनम् हृत्वा लम्बमानस्य ते प्रस्थानम् कथम् अपि भावि । ज्ञातास्वादः कः विवृत-जघनाम् विहातुम् समर्थः ॥४३॥

(सं०) तस्या इति । हे सखे ! प्राप्ता वानीरशाखा वेतसशाखा येन तत्तथोक्तम् । अत एव किञ्चिदीषत्करधृतं हस्तावलम्बितमिव स्थितम् । मुक्तस्त्यक्तो रोधस्तटमेव नितम्बः कटिर्येन तत्तथोक्तम् । "नितम्बः पश्चिमे श्रोणिभागेऽद्रिकटके कटौ" इति यादवः । नीलं कृष्णवर्णं तस्या गम्भीरायाः सलिलमेव वसनं नीत्वापनीय । प्रस्थानसमये प्रेयसीवसनग्रहणं विरहतापविनोदनार्थमिति प्रसिद्धम् । लम्बमानस्य पीतसलिलभराल्लम्बमानस्य । अन्यत्र,-जघनारूढस्य । ते तव प्रस्थानं प्रयाणं कथमपि कृच्छ्रेण भावि । कृच्छ्रत्वे हेतुमाह—ज्ञातेति । ज्ञातास्वादोऽनुभूतरसः कः पुमान् विवृतं प्रकटीकृतं जघनं कटिस्तत्पूर्वभागो वा यस्यास्ताम् । "जघनं स्यात्कटौ पूर्वश्रोणिभागापरांशयोः" इति यादवः । विहातुं त्यक्तुं समर्थः ? न कोऽपीत्यर्थः ॥४३॥

पदार्थः—सखे ! = हे मित्र ! प्राप्तवानीरशाखम् = बेंत की शाखाओं तक पहुंचे हुए । किञ्चित्करधृतमिव = जो कि कुछ-कुछ मानो हाथ से पकड़ा हुआ हो । मुक्त-रोधो-नितम्बम् = जिसने तट-रूपी नितम्बों को छोड़ दिया है । नीलं सलिल-वसनं = नील रंग के जल-रूपी वस्त्र को । हृत्वा = हटाकर । लम्बमानस्य = ऊपर लम्बा पड़े हुए, पसरे हुए । ते प्रस्थानम् = तेरा जाना । कथमपि भावि = बड़ा कठिन होगा । ज्ञातास्वादः = जिसने स्वाद अनुभव कर

1—पुलिन—जघनाम् । विल्स०, विपुलजघनाम म० सिं, सु० वि० वल्ल० आदि ।

रखा हो। विवृत–जघनाम्=उघड़ी जंघाओं वाली (स्त्री) को। विहातुं= छोड़ने को। कः समर्थः = कौन समर्थ है ? ॥४३॥

भाषानुवादः—हे मित्र ! बेंत की टहनियों तक पहुंचे हुए इस (गम्भीरा) के नीले रंगवाले जल-रूपी वस्त्र को हटाकर, जो कि तट-रूपी नितम्बों से गिर पड़ा है और मानों हाथों से कुछ पकड़ा हुआ हो, पसरे हुए तेरा (गम्भीरा को छोड़कर) चला जाना बड़ा कठिन होगा। जिसने स्वाद ले रखा हो, (भला वह) कौन (व्यक्ति) उघड़ी जांघवाली स्त्री को छोड़ सकता है ?

व्याकरणम्—सखे = सखि का सम्बोधन एक वचन। प्राप्तवानीरशाखम्= प्राप्ता वानीरशाखा येन तत् (ब० व्री०)। करधृतम्=करेण धृतम् (तृ० तत्पु०) मुक्तरोधोनितम्बम् = मुक्तस्त्यक्तो रोधस्तटमेव नितम्बः कटिर्येन तत्तथोक्तम्, (ब० व्री०), सलिल–वसनम्=सलिलमेव वसनम् (कर्मधा०)। हृत्वा = √ हृ (भ्वा० उभ०) (ले जाना)+त्वा(क्त्वा)। लम्बमानस्य = √लम्ब्, (भ्वा० आ०)+मान (शानच्)। ते = युष्मत् का ष० ए० 'तव' और 'ते' दोनों होते हैं। दूसरा रूप वाक्य के प्रारम्भ में नहीं आता। कथमपि = क्रि० वि। भावि = अवश्यं भविष्यति इति,√भू+णिनि कर्त्तरि, भविष्यदर्थे नपुं० एक०। ज्ञाता-स्वादः = ज्ञातोऽनुभूत आस्वादो रसः येन (ब० व्री०)। विवृत-जघनाम् = विवृतं प्रकटीकृतं जघनं कटिर्यस्याः सा (ब० व्री०)। विहातुम् = वि+√हा (जुहो० प०)+तुमुन् ॥४३॥

विशेषः—प्राप्तवानीरशाखम = वानीर की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—वां शुष्कं आ समन्तान्नीरमस्य। देखिए—उत्तर० II. २० 'इह समदशकुन्ताक्रान्त-वानीरवीरुद्'।

विवृत–जघनाम्=विल्सन (Wilson) ने इसकी जगह 'पुलिन–जघ-नाम्' यह पाठ दिया है, परन्तु यह ठीक नहीं बैठता, क्योंकि 'पुलिन' तीर (तट) को कहते हैं और तीर को पहले नितम्ब कह ही दिया है, उसकी पुनरा-

वृत्ति ही है; दूसरे मेघ 'सलिल-रूपी वसन' का ही हरण करता है 'पुलिन' का नहीं; तीसरे काव्य में सलिल का वसन से साम्य अधिक प्रसिद्ध है।

वानीरशाखम्, रोधोनितम्बम् और सलिल-वसनम् में रूपक है, परन्तु वह एक देश--विवर्ति ही है, क्योंकि गम्भीरा में नायिकात्व का आरोप (Superimposition) 'आर्थ' है। अन्तिम पाद में सामान्य द्वारा उपरोक्त विशेष बात का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥४३॥

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः[1]

स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।

नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते

शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः--त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित-वसुधा-गन्ध-संपर्क-रम्यः, स्रोतोरन्ध्र-ध्वनित-सुभगम् दन्तिभिः पीयमानः काननोदुम्बराणाम् परिणमयिता शीतः वायुः देवपूर्वम् गिरिम् उपजिगमिषोः ते नीचैः वास्यति ॥४४॥

(सं०) त्वदिति। त्वन्निष्यन्देन तव वृष्ट्योच्छ्वसिताया उपबृंहिताया वसुधाया भूमेर्गन्धस्य संपर्केण रम्यः। सुरभिरित्यर्थः। 'स्रोतः' शब्देनेन्द्रियवाचिना तद्विशेषो घ्राणं लक्ष्यते। "स्रोतोऽम्बुवगेन्द्रिययोः" इत्यमरः। स्रोतोरन्ध्रेषु नासाग्रकुहरेषु यद्ध्वनितं शब्दस्तेन सुभगं यथा तथा दन्तिभिर्गजैः पीयमानः। वसुधागन्धलोभादाघ्रायमाण इत्यर्थः। अनेन मान्द्यमुच्यते। काननेषु वनेषूदुम्बराणां जन्तुफलानाम् "उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः" इत्यमरः। परिणमयिता परिपाकयिता। "मितां ह्रस्वः" (६।४।९२) इति ह्रस्वः। शीतो वायुः। देवपूर्वं 'देव' शब्दपूर्वं गिरिम्। देवगिरिमित्यर्थः। उपजिगमिषोरुपगन्तुमिच्छोः। गमेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। ते तव नीचैः शनैर्वास्यति। त्वां

1—पूरा: निस०।

बीजयिष्यतीत्यर्थः ।। संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी । "देवपूर्वं गिरिम्" इत्यत्र 'देव' पूर्वत्वं गिरि'शब्दस्य न तु संज्ञिनः । 'तदर्थस्य' इति संज्ञायाः संज्ञित्वा-भावादवाच्यवचनं दोषमाहुरालंकारिकाः । तदुक्तमेकावल्याम्—"यदवाच्यस्य वचनमवाच्यवचनं हि तत्" इति । समाधानं तु देवशब्दविशेषितेन गिरिशब्देन शब्दपरेण मेघोपगमनयोग्यो देवगिरिर्लक्ष्यत इति कथंचित्संपाद्यम् ।। ४४ ।।

पदार्थः—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित वसुधा० = तेरे बरसने से उभरी हुई पृथ्वी के गन्ध के संसर्ग से सुन्दर । स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम् (क्रि० विशे०) = (हाथियों के) नासाग्रछिद्रों में शब्द करने के कारण जिसका सेवन अच्छा प्रतीत हो । दन्तिभिः पीयमानः = हाथियों के द्वारा सेवन किया जाता हुआ । शीतो वायुः = शीतल पवन । काननोदुम्बराणाम् = जंगली अजीरों के । परिण-मयिता = पकानेवाला । देवपूर्वं गिरिम् = देव (शब्द) है पहले जिसके ऐसे पर्वत को (अर्थात् देव गिरि पर्वत को) । उपजिगमिषोः ते = जाने की इच्छा वाले तेरे । नीचैः वास्यति = नीचे बहेगा (चलेगा) ।।४४।।

भाषानुवादः—तेरे बरसने से उभरी हुई पृथ्वी के गन्ध के संसर्ग से रमणीय, हाथियों से नासिका के (अग्रभागवाले) छिद्रों में पैदा होते हुए शब्द के साथ अच्छी तरह सेवित (पीयमानः), जंगली गूलरों को पकानेवाला शीतल वायु देवगिरि को जाना चाहते हुए तेरे नीचे से बहेगा (चलेगा) ।।४४।।

व्याकरणम्—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधा० = तव निष्यन्दः त्वन्निष्यन्दः (नि + √स्यन्द् + घञ् भावे) तेन उच्छ्वसिताया वसुधाया गन्धस्य संपर्केण रम्यः । उच्छ्वसित—उत् + √श्वस् + क्त कर्मणि । स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम् = स्रोतसः घ्राणेन्द्रियस्य रन्ध्रेषु यद् ध्वनितं शब्दस्तेन सुभगं यथा स्यात्तथा (क्रि० विशे०) । दन्तिभिः = दन्तिन् (दन्त + इन्) का तृ० बहु० । पीयमानः = √पा, (भ्वा० प०) (पीना) + मान (शानच्), कर्मणि । काननोदुम्बराणाम् = काननेषु उदुम्बराणाम् जन्तुफलानाम् (ष० तत्पु०) । परिणमयिता = (परि + √नम्, भ्वा०

प०+णिच्+तृच् कर्तरि) । परि+√नम् से णिच् बनाने में वृद्धि नहीं होती । देवपूर्वम्=देव: देवशब्द: पूर्वं यस्य स: (ब० व्री०) तम् । गिरिम्=गिरि॰ का द्वि० एक० । उपजिगमिषो:=उपगन्तुमिच्छो: इति, उप्+√गम्, (भ्वा० प०)+सनि, ष० एक० । ते=युष्मद् का ष० एक०; सम्बन्धविवक्षया षष्ठी । नीचै:=क्रियाविशे० । वास्यति=√वा, [अदा० प०] (बहना, चलना) लृट्, म० पु० एक० ॥४४॥

विशेष:--स्रोतोरन्ध्रध्वनित०=वल्लभ और सारोद्धा० कहते हैं कि 'स्रोतस्' स्वयं 'करिकर' का पर्यायवाचि शब्द है औरशिशुपाल० के XVIII. ४९ श्लोक का अपने कथनके समर्थन में प्रमाण देते हैं । मल्लि० ने 'स्रोत' का अर्थ 'नासाग्र' किया है, परन्तु अमरकोष 'स्रोत-इन्द्रिये निम्नगारये' के अनुसार 'स्रोत' का अर्थ इन्द्रिय है । प्रकृत में घ्राणेन्द्रिय ही विवक्षित है ।

नीचैर्वास्यति = मल्लि० के अनुसार इसका अर्थ 'वायु धीरे-धीरे तुम्हारी सेवा करेगा'. परन्तु सरस्वती० इसका शाब्दिक अर्थ लेते हैं—यथा, 'ते तव नीचैरधस्ताद्वास्यति' ।

देवपूर्वं गिरिम् = देवगिरि से उस स्थान का निर्देश है जिसे देवगढ़ कहते हैं और जो चम्बल नदी के दक्षिण की ओर मालव के मध्य में स्थित हैं । इस पर्वत पर कार्तिकेय के मन्दिर का स्थान है । देवगिरि पर्वत को दक्षिण म ं स्थित देवगिरि या दौलताबाद समझना ठीक न होगा । 'देवपूर्वं गिरिम्' में मल्लि० ने यहां एकावलीकार प्रमाण देकर अवाच्य वचन दोष माना है, अर्थात् व्यक्ति वाचक शब्दों के अवयवीभूत शब्दों मे ं परिवर्तन आ जाने से व्यक्ति वाचक नहीं होता है, परन्तु इस प्रकार की रचना के लिए देखिए--'दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधा:' रघु० VIII. २९, और देखिए —हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते शिशु० I. ४२ । 'धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश' किरात० XVIII. ४४, शारदारञ्जन राय के अनुसार मल्लि० का यह विवाद ही अनावश्यक है,

क्योंकि देवगिरि शब्द व्यक्ति वाचक नहीं है, गिरि सामान्य शब्द है उस के आगे देव शब्द आ जाता है। यदि कवि देवगिरि को व्यक्ति वाचक शब्द मान कर और उसके परिवर्तन करके देवपूर्वः 'गिरिः पर्वतः' यों पढ़ता तो अवश्य दोष था ॥४४॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां [1]चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥४५॥

अन्वयः——तत्र (देवगिरौ) नियत-वसतिम् स्कन्दम् पुष्पमेघीकृतात्मा (सन्) भवान् व्योम-गङ्गा-जलार्द्रैः पुष्पासारैः स्नपयतु। तत् हि वासवीनाम् चमूनाम् रक्षा-हेतोः नव-शशि-भृता हुतवह-मुखे संभृतम् अत्यादित्यम् तेजः (अस्ति) ॥४५॥

[सं०] तत्रेति। तत्र देवगिरौ नियता वसतिर्यस्य तम्। नित्यसंनिहितमित्यर्थः। पुरा किल तारकाख्यासुरविजयसंतुष्टः सुरप्रार्थनावशाद्भगवान्भवानीनन्दनः स्कन्दो नित्यमहमिह सह शिवाभ्यां वसामीत्युक्त्वा तत्र वसतीति प्रसिद्धिः॥ स्कन्दं कुमारं स्वामिनम्। पुष्पाणां मेघः पुष्पमेघः, पुष्पमेघीकृतात्मा कामरूपत्वात्पुष्पवर्षुकमेघीकृतविग्रहः सन् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः। पुष्पासारैः पुष्पसंपातैः। "धारासंपात आसारः" इत्यमरः। भवान् स्वयमेव स्नपयत्वभिषिञ्चतु। स्वयंपूजाया उत्तमत्वादिति भावः। तथा च शंभुरहस्ये——"स्वयं यजति चेद्देवमुत्तमा सोदरात्मजैः। मध्यमा या यजेद्भृत्यैरधमा याजनक्रिया॥" इति। स्कन्दस्य पूज्यत्वसमर्थनेनार्थेनार्थान्तरं न्यस्यति——रक्षेति। तत् भगवान्, स्कन्द इत्यर्थः। विधेयप्राधान्यान्नपुंसकनिर्देशः। वासवस्येमा इति वासव्यः। "तस्येदम" (४।३।१२०) इत्यण। तासां वासवीनामैन्द्रीणां चमूनां सेनानां

[1]—वसूनाम् सारो०।

रक्षाहेतो रक्षायाः कारणेन। रक्षार्थमित्यर्थः। "षष्ठी हेतुप्रयोगे" (२।३।२६) इति षष्ठी। नवशशिभृता भगवता चन्द्रशेखरेण। वहतीति वहः। पचाद्यच्। हुतस्य वहो हुतवहो वह्निस्तस्य मुखे संभृतं संचितम्। आदित्यमतिक्रान्तमत्यादित्यम्। "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति समासः। तेजो हि साक्षाद्भगवतो हरस्यैव मूर्त्यन्तरमित्यर्थः। अतः पूज्यमिति भावः। मुखग्रहणं तु शुद्धत्वसूचनार्थम्। तदुक्तं शंभुरहस्ये—"गवां पश्चाद्‌द्विजस्याङ्घ्रियोगिनां हृत्कवेर्वचः। परं शुचितमं विद्यान्मुखं स्त्रीवह्निवाजिनाम्।" इति ॥ ४५ ॥

पदार्थः—तत्र = देवगिरि पर। नियतवसतिम = स्थायी रूपसे रहनवाल। स्कन्दम् = स्वामी कार्त्तिकेय को। पुष्पमेघीकृतात्मा = अपने आपको फूलों का मेघ बनाते हुए; पुष्प-मेघ--रूप बनकर। व्योमगङ्गा-जलार्द्रैः = स्वर्ग की गङ्गा के जल से गीले हुए। पुष्पासारैः = फूलों की वर्षा से। स्नपयतु = नहलाओ, अभिषेक करो। तत् = वह स्कन्द। वासवीनां चमूनाम् = इन्द्रकी सेनाओं की। रक्षा-हेतोः = रक्षा के लिए। नवशशिभृता = भगवान् चन्द्रशेखर से। हुतवहमुखे = अग्नि के मुख में। संभृतम् = एकत्रितकिया गया हुआ। अत्यादित्यं तेजः = सूर्य से बढ़-चढ़ कर तेज (है) ॥४५॥

भाषानुवादः—वहां (देवगिरि पर) स्थायी-रूप से रहनेवाले स्वामी कार्त्तिकेय को तुम पुष्प-मेघ रूप बनकर आकाश गङ्गा के जल से गीले हुए फूलों की वर्षा द्वारा नहलाना। वह (स्कन्द) इन्द्र की सेनाओं की रक्षा के लिए भगवान शशिशेखर (शिव) के द्वारा अग्नि के मुख में एकत्रित किया हुआ सूर्य को भी अतिक्रमण करनेवाला तेज है ॥४५॥

व्याकरणम्—नियत-वसतिम् = नियता (नि+√यम्+त) वसतिर्यस्य तम् (ब० व्री०)। पुष्पमेघीकृतात्मा = पुष्पाणां मेघः पुष्पमेघः, अपुष्पमेघः पुष्पमेघः सम्पद्यमानः कृत इति पुष्पमेघीकृतः, अभूत् तद्भावे कर्तरि च्विः, पुष्पमेघीकृत आत्मा येन सः (ब० व्री०)। व्योमगङ्गाजलार्द्रैः = व्योम्नः गङ्गा

व्योम-गङ्गा तस्या यज्जलं तेनार्द्रैः । पुष्पासारैः = पुष्पाणामासारैः सम्पातैः । स्नपयतु = √स्ना, (अदा० प०, नहाना, अभिषेक करना) + णिच्, लोट्, प्र० पु० एक० । वासवीनाम् = वासवस्येयं वासवी तासां चमूनाम् । रक्षा-हेतोः = रक्षायाः हेतोः । नवशशिभृता = नवं शशिनं बिभर्तीति नवशशिभृत् तेन । हुतवहमुखे = हुतं √हु, [जु० प०] + त (क्त), वहतीति वहः √वह् (भ्वा० उ०) + अ । हुतस्य स्वाहा कृतस्य अन्नादिकस्य वहः हुतवहः = वह्निः तस्य मुखे । सभृतम् = सम् + √भृञ् (भ्वा० उभ०) + त (क्त) । अत्यादित्यम् = आदित्यमतिक्रान्तम् ॥४५॥

विशेष:—वासवीनाम् = वल्लभ कहता है कि यह प्रयोग 'वासवीयानाम्' का अशुद्ध रूप है, परन्तु मल्लि० 'तस्येदम्' इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय करके यह रूप व्याकरण-सम्मत सिद्ध करता है । देखिए टीका—'वासवस्येमा वासव्यः तस्येदमित्यण्' पुनः 'टिड्ढाणञ्.......इति ङीप् (ई) ।

स्कन्द = महाभारत में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'स्कन्नत्वात्स्कन्दतां प्राप्तो गुहावासाद्गुहोऽभवत्' ।

हुतवहमुखे = इससे पवित्रता का भाव प्रकट होता है । शम्भु-रहस्य में 'गौ का पिछला आधा भाग, ब्राह्मण के पैर, योगियों का मन, कवियों के शब्द, स्त्रियों, घोड़ों तथा अग्नि का मुख सर्वथा पवित्र समझे गए हैं ।' कार्त्तिकेय का कई नामों में से एक नाम 'अग्निभूः' (अग्नि से उत्पन्न हुआ) है । इसी प्रकार पूर्वमेघ श्लोक ४६ में 'पावकेः' यह पद कार्त्तिकेय के लिए आया है । कार्त्तिकेय के अन्य नाम 'शरजन्मा, शरवणभवः (कानों के जंगल में पैदा हुआ) इत्यादि हैं । देखिए—रघु० III. २३ 'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा'; पूर्वमेघ श्लोक ४७ 'आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा' । कार्त्तिकेय की उत्पत्ति शिवजी के वीर्य से हुई है । यह वीर्य जब अग्नि में डाला गया, तो अग्नि इसे सहन करने में असमर्थ रही । उसने इसे गङ्गा में डाल दिया था । यह भी कहा

जाता है कि वह वीर्य सरकण्डों (शर या कानों) की झाड़ी में डाल दिया गया था, जहां इसे छः कृत्तिकाओं ने निगल लिया था और प्रत्येक ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया था। पृथक्-पृथक् पैदा हुए ये छः बच्चे पीछे मिला कर एक रूप में परिवर्तित किए गए थे, जिसके छः सिर तथा बारह हाथ थे। इस बालक को इन्द्र की सेना का नायक नियुक्त किया गया। इसी ने तारकासुर का वध किया था। इसको शरकण्डों के वन में पैदा होने से 'शरजन्मा' तथा 'शरवणभवः' कहते हैं। देखो पूर्वमेघ श्लोक ४७ 'आराध्यैनं शरवणभवं देवम्........'। इसे कृत्तिकाओं से उत्पन्न होने के कारण 'कार्त्तिकेय', इन्द्र की सेना का सेनापति बनने से 'सेनानी' और अग्नि से जन्म होने के कारण 'अग्निभूः' या 'पावकिः' भी कहते हैं। शिव जी के इस पुत्र को मोर पर सवारी करनेवाला बताया गया हैं, देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४६ 'धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः'। इस सम्बन्ध में रघु० II. ७५ श्लोक, देखें–सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्'।

नवशशिभृता = नवीन चन्द्र को धारण करनेवाले शिव जी के द्वारा। कहा जाता है कि चाँद की कला शिव जी के सिर पर विराजती है। इसी कारण इनके शशिशेखर, इन्दुमौलि, अर्धेन्दुमौलि या चन्द्रशेखर इत्यादि नाम भी हैं। देखिए–मुद्रा० I. १ 'धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला'। इस सम्बन्ध में पूर्वमेघ का श्लोक ४६ भी देखें जिसका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है। और देखिए–पूर्व मेघ श्लोक ५७ का पहला पाद–'तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः।

तद्धितेजः—तत शब्द स्कन्द का स्थानापन्न सर्वनाम होने से पुंलिङ्ग होना चाहिए था, क्योंकि वह उद्देश्य है और उद्देश्य 'वेदाः प्रमाणम्', की तरह अपना ही लिङ्ग रखता है। मल्लि० का 'विधेयप्राधान्यान्नपुंसकनिर्देशः यह समाधान ठीक नहीं जँचता। इस श्लोक में रूपक अलंकार है ॥४५॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा[1] कुवलयदल[2]प्रापि [3]कर्णे करोति ।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा [4]पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४६॥

अन्वयः——ज्योतिर्लेखा-वलयि गलितम् यस्य (मयूरस्य) बर्हम् भवानी पुत्रप्रेम्णा कुवलय-दल-प्रापि (यथास्यात्तथा) कर्णे करोति; हर-शशिरुचा धौता-पाङ्गम् पावकेः तम मयूरम् पश्चात् अद्रि-ग्रहण-गुरुभिः गर्जितैः (त्वम्) नर्तयेथाः ।

(सं०) ज्योतिरिति । ज्योतिषस्तेजसो लेखा राजयस्तासां वलयं मण्डलं यस्यास्तीति तथोक्तम् । गलितं भ्रष्टम् । न तु लौल्यात्स्वयं छिन्नमिति भावः । यस्य मयूरस्य बर्हं पिच्छम् । "पिच्छबर्हे नपुंसके" इत्यमरः । भवानी गौरी । पुत्रप्रेम्णा पुत्रस्नेहेन कुवलयस्य दलं पत्रं तत्प्रापि तद्योगि यथा तथा कर्णे करोति । दलेन सह धारयतीत्यर्थः । यद्वा कुवलयस्य दलप्रापि दलभाजि दलार्हे कर्णे करोति । क्विबन्तात्सप्तमी । दलं परिहृत्य तत्स्थाने बर्हं धत्त इत्यर्थः । नाथस्तु–'कुवलयदलक्षेपि" इति पाठमनुसृत्य "क्षेपो निन्दापसारणं वा" इति व्याख्यातवान् । हरशशिरुचा हरशिरश्चन्द्रिकया धौतापाङ्गं स्वतोऽपि शौक्लचादतिधवलितनेत्रान्तम् । 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ" इत्यमरः । पावकस्याग्नेरपत्यं पावकिः स्कन्दः । "अत इञ्" (४।१।९५) इति इञ् । तस्य ? तं पूर्वोक्तं मयूरं पश्चात्पुष्पाभिषेचनानन्तरमद्रेर्देवगिरेः कर्तुः । ग्रहणेन गुहासंक्रमणेन गुरुभिः । प्रतिध्वानमहद्भिरित्यर्थः । गर्जितैर्नर्तयेथा नृत्यं कारय । मार्दङ्गिकभावेन भगवन्तं कुमारमुपास्स्वेति भावः । "नर्तयेथाः" इत्यत्र "अणावकर्मकाच्चित्तावत्कर्तृकात्" (१।३।८८) इत्यात्मनेपदापवादः । "निगरणचलनार्थेभ्यश्च" (१।३।८।७) इति परस्मैपदं न भवति तस्य "न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः" (१।३।८९) इति प्रतिषेधात् ॥ ४६ ॥

१–प्रीत्या । २–पद । ३–स्पर्धि स० टी० । ४–आप्याययेः विल्स० ।

पदार्थः—यस्य = जिस (मयूर) के। ज्योतिर्लेखा-वलयि = कान्तिवाली रेखाओं का चक्रवाले। गलितम् = गिरे हुए। बर्हम् = पंख को। भवानी = पार्वती। पुत्र-प्रेम्णा = पुत्र-प्रेम से। कुवलय-दल-प्रापि = कमल की पंखुड़ी के साथ। कर्णे करोति = कान में पहनती है। या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति = कमल की पंखुड़ी पहनने योग्य कान में धारण करती है। हरशशि-रुचा = शिव जी के (सिर पर स्थित) चन्द्रमा की चमक से। धौतापाङ्गम् = अधिक श्वेत हो गए हैं अपांग (कनखियां) जिसकी ऐसे। पावकेः = कार्तिकेय के। तं मयूरम् = उस मयूर को। पश्चात् = (फूलों के अभिषेक के) पीछे। अद्रि-ग्रहण-गुरुभिः = पर्वत की प्रतिध्वनि से बढ़े हुए। गर्जितैः = गर्जनों से। नर्तयेथाः = नचाना ॥४६॥

भाषानुवादः—तदनन्तर (तुम) स्वामी कार्तिकेय (पावकि) के उस मोर को, जिसके (स्वयं) गिरे हुए चमकती रेखाओं के चक्रवाले पंख को पार्वती पुत्र-प्रेम से कमल की पंखुड़ी के साथ कान में पहनती है और जिसके आँखों की कनखियाँ शिव जी के (शिर पर स्थित) चन्द्रमा की चमक से (और भी अधिक) श्वेत रहतीं हैं—देवगिरि (अद्रि)के गूंजने से बढ़े हुए गर्जनों द्वारा नचाना ॥४६॥

व्याकरणम्—ज्योतिर्लेखावलयि = ज्योतिषस्तेजसो लेखा राजयः तासां वलयं मण्डलमस्यास्तीति। गलितम् = √गल्, (भ्वा० प०) (गिरना)+त (क्त)। भवानी = भवस्य शिवस्य पत्नी, भव+ङीप् (इन्द्र-वरुण-भव इत्या-दिना आनुगागमः)। पुत्र-प्रेम्णा = पुत्रस्य प्रेम्णा (ष० तत्पु०)। कुवलयदल-प्रापि = कुवलयस्य दलं पत्रं तत्प्राप्नोति इति, तत्प्रापि = तद्योगि यथा स्यात् तथा (क्रि० विशे०)। प्रापि=प्र+√आप् (स्वा० उभ०)+इन् (णिनि)। यद्वा कुवलयस्य दलप्रापि दलभाजि दलार्हे कर्णे करोति—प्राप्नोति प्राप् (क्विप्) क्विबन्तात्सप्तमी (कर्णे का विशे०)। हरशशिरुचा = हरस्य शिरसि स्थितो यः

चन्द्रस्तस्य रुचा (मध्यमपदलोपि स०)। धौतापाङ्गम् = धौतौ अतिधवलितौ अपाङ्गौ नेत्रान्तौ ('अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः) यस्य तम् (ब० व्री०)। पावकेः = पावकस्याग्नेरपत्यं पावकिस्तस्य स्कन्दस्य। 'अत इञ्' इति इञ्। अद्रिग्रहणगुरुभिः = अद्रेः (कर्तुः) देवगिरेः ग्रहणेन गुहासंक्रमणेन गुरुभिः वृद्धिं गतैः प्रतिध्वान-महद्भिरित्यर्थः। गर्जितैः = (गर्ज्, भ्वा० प०+त, भावे क्तः)। नर्तयेथाः = √नृत, (दि०प०) (नाचना)+णिच, विधिलिङ् (आत्मनेपद) म० पु० ए०। यहाँ 'नृत्' धातु का णिजन्त निगरणचलनार्थेभ्यश्च' से परस्मै० होना चाहिए था, क्योंकि नृत (नाचना) चलनार्थ है अथवा 'अणौ अकर्मकात् चित्तवत्कर्तृकात्' इस से परस्मैपद प्राप्त है, क्योंकि नृत् अणि में अकर्मक और चित्तवत् (चेतन) कर्तृक है, परन्तु 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृति-वदवसः' इस से परस्मैपद का निषेध होकर 'णिचश्च से आत्मनेपद हुआ है।

विशेषः—बर्हं कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति = इसके मल्लि० के अनुसार दो अर्थ हो सकते हैं—(१) पंख को कमल की पंखुड़ियों के साथ रखती है। इस दशा में 'कुवलयदलप्रापि' करोति क्रिया का विशेषण है (२) पंख को अपने कान में (कर्णे) रखती है, अर्थात् कान में उस स्थान पर रखती है, जहां कमल की पंखुड़ियाँ डाली जानी चाहिए। इस अवस्था में 'कुवलयदलप्रापि' कर्णे का विशेषण है।

सरस्वती० 'प्रापि' के स्थान में 'स्पर्धि' पाठ देता है, जिसका अर्थ 'जो पंख कुवलय (कमल) की पंखुड़ी से होड़ करता है' इस प्रकार है। यह अर्थ मल्लि० के द्वारा बतलाए गए दोनों प्रकार के वैकल्पिक अर्थों की अपेक्षा अधिक अच्छा प्रतीत होता है और विच्छित्ति प्रकट करता है।

पावकेस्तं मयूरम् = पावकेः का शब्दार्थ 'अग्नि से उत्पन्न हुआ' है। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४५ का 'विशेष' भाग। विल्सन (Wilson) महोदय 'पावकेः' के स्थान में 'आप्यायये:' (०रुचाप्याययेः) पाठ देकर उस मयूर को

जलबिन्दुओं से आप्यायित करना अर्थात् तृप्त करना, तदनन्तर उसे नचाना। इस अवस्था में प्रकृत श्लोक में दो क्रिया-पद होने से दो वाक्य बनेंगे। श्लोक में 'पश्चात्' शब्द की स्थिति से ही इस पाठान्तर को प्रोत्साहन मिला प्रतीत होता है, किन्तु इसमें मयूर का स्वामी कार्तिकेय के साथ सम्बन्ध जुड़ने से रह जाता है।

हरशशिरुचा = शिवजी के सिर पर स्थित चन्द्रमा की चमक से। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४५ का 'विशेष' भाग तथा पूर्वमेघ श्लोक ५७ का पहला पाद 'तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः'। यहां हमें क्रमशः 'नव-शशिभृत्' तथा 'अर्धेन्दुमौलि' शब्द जो शिव के पर्यायवाची हैं—मिलते हैं॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः[1]।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम्॥४७॥

अन्वयः—एनम् शरवणभवम् देवम् आराध्य वीणिभिः सिद्ध-द्वन्द्वैः जल-कण-भयात् मुक्त-मार्गः (सन्) उल्लङ्घिताध्वा सुरभि-तनयालम्भजाम् भुवि स्रोतो-मूर्त्या परिणताम् रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम् मानयिष्यन् व्यालम्बेथाः॥४७॥

[स०] आराध्येति। एनं पूर्वोक्तं शरा बाणतृणानि। "शरो बाणे बाणतृणे" इति शब्दार्णवे। तेषां वनं शरवणम्। "प्रनिरन्तःशर—" (८।४।५) इत्यादिना णत्वम्। तत्र भवो जन्म यस्य तं शरवणभवम्। "अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः" (काव्या. सू. ५।२।१९) इति वामनः। अवर्ज्योऽगतिकत्वादाश्रयणीय इत्यर्थः। देवं स्कन्दम्। "शरजन्मा षडाननः" इत्यमरः। आराध्योपास्य वीणिभिर्वीणावद्भिः। व्रीह्यादित्वादिनिः। सिद्धद्वन्द्वैः सिद्धमिथुनैः। भगवन्तं स्कन्दमुपवीणयितुमागतैरिति भावः। जलकणभयात्।

१—दत्तमार्गः विल्स० दत्तवर्त्मा। त्यक्तमार्गः वल्ल०।

जलसेकस्य वीणाक्वणनप्रतिबन्धकत्वादिति भावः। मुक्तमार्गस्त्यक्तवर्त्मा सन्। उल्लङ्घिताध्वा। कियन्तमध्वानं गत इत्यर्थः। सुरभितनयानां गवामालम्भेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम्। भुवि लोके स्रोतोमूर्त्या प्रवाहरूपेण परिणतां रूपविशेषमापन्नां रन्तिदेवस्य दशपुरपतेर्महाराजस्य कीर्तिम्। चर्मण्वत्याख्यां नदीमित्यर्थः। मानयिष्यन्सत्कारयिष्यन्। व्यालम्बेथाः। आलम्ब्यावतरेरित्यर्थः। पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य गवालम्भेष्वेकत्र संभृताद्रक्तनिष्यन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदी सस्यन्दे। सा चर्मण्वतीत्याख्यायत इति ॥ ४७ ॥

पदार्थः—शरवणभवं देवम्=सरकण्डों के वन में पैदा हुए देव की अर्थात् स्कन्द की। आराध्य = उपासना करके। वीणिभिः = बीणाओं को लिए हुए। सिद्ध-द्वन्द्वैः=सिद्धों के युगलों (जोड़ों) द्वारा। जलकण-भयात्=जल की बूँदों के भय से। मुक्तमार्गः = जिसका रास्ता (खुला) छोड़ दिया गया है। उल्लङ्घिताध्वा = जिसने मार्ग पार कर लिया है। सुरभितनयालम्भजाम् = गौओं के बलिदानों से उत्पन्न हुई। स्रोतो-मूर्त्या = नदी के रूप में। भुवि परिणताम् = पृथ्वी पर परिणत या परिवर्तित हुई। रन्तिदेवस्य कीर्तिम् = दशपुरपति रन्तिदेव की कीर्ति (चर्मण्वती नाम की नदी) को। मानयिष्यन् = सत्कार करने की इच्छा से। व्यालम्बेथाः = नीचे उतर कर ठहरना ॥४७॥

भाषानुवादः—इस (सरकण्डों) के वन में पैदा हुए देव (स्वामी कार्तिकेय) की आराधना करके (तुम) वीणा (हाथ में) लिए हुए सिद्धदम्पतियों के जल-कणों के (गिरने के) डर से मार्ग छोड़ देने पर कुछ रास्ता पार करके गौओं के बलिदानों से उत्पन्न (एवं) पृथ्वी पर नदी के रूप में परिवर्तित हुई (राजा) रन्तिदेव की कीर्ति (चर्मण्वती) के प्रति आदर-भाव दिखाने की अभिलाषा से (देवगिरि से) नीचे उतर कर ठहरना ॥४७॥

व्याकरणम्—एनम्=इदम् (पुंल्लि०) का द्वि० एक०; यह दूसरा प्रयोग अन्वादेश में है। शरवणभवम्=शरा बाणाः तेषां वनं शरवणम्, ('प्रनिर

शरे'— इससे 'वन' के न को ण हुआ) तत्र भवः जन्म यस्य तम् (ब० व्री०)। आराध्य=आ+√राध्, (स्वा० आ०, समर्थ होना)+य (ल्यप)। वीणिभिः= वीणावद्भिः; वीणा एषां विद्यते इति वीणिनः तैः 'व्रीह्यादित्वादिनिः, इससे 'इनि' प्रत्यय हुआ। जल–कण–भयात्=जलस्य कणाः जलकणाः तेभ्यो भयात्। मुक्तमार्गः=मुक्तो मार्गो यस्य सः (ब० व्री०)। उल्लङ्घिताध्वा=उल्लङ्घितोऽध्वा येन सः (ब०व्री०), उत्+√लंघ्, (भ्वा० प०, सीमा का अतिक्रमण करना)+त (क्त)। सुरभितनयालम्भजाम् = सुरभेः तनयानां गवामालम्भनेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम् (कीर्तिम्)। स्रोतोमूर्त्या = स्रोतसः मूर्त्तिः स्रोतोमूर्त्तिः तया। भुवि = भू (पृथ्वी)स० एक०। परिणताम् = परि+√नम्, (भ्वा०प०)+त(क्त), स्त्री० द्वि० एक०। मानयिष्यन्=√मान्, (चु०प०)+स्यत् (भविष्यत् कृदन्त), प्र० एक०। व्यालम्बेथाः = वि+आ√लम्ब्, (भ्वा० आ०, नीचे उतरना) विधिलिङ्, म० पु० एक० ॥४७॥

विशेष:—शरवणभवम् देवम् = देखिए–पूर्वमेघ श्लो ४५ का विशेष भाग।

सिद्ध–द्वन्द्वैः······मार्गः = सिद्ध–दम्पति स्वामी कार्त्तिकेय को वीणा बजा कर प्रसन्न करने के लिए आते थे। वर्षा के कणों के भय से उन्हें एक–दम मेघ का रास्ता छोड़ देना पड़ा, क्योंकि पानी पड़ जाने से वीणा बजती नहीं; इस लिए वे वीणा को वर्षा की बूदों से बचाने के लिए रास्ते से भाग निकले, एवं मेघ का रास्ता साफ हो गया।

सुरभि–तनया–लम्भजाम् = कहा जाता है कि पहले कभी राजा रन्तिदेव ने गोमेध नाम के यज्ञों में बहुत सी गौओं का वध किया। उनके चर्म से बहते हुए खून की एक नदी बन गई, जिसका नाम 'चर्मण्वती' पड़ा। इस नदी को आज कल 'चम्बल' कहते हैं। यहां इसी नदी का उल्लेख है। देखो महा-भारत (वनपर्व) और भागवत पुराण।

रन्तिदेवस्य कीर्तिम् = दशपुर का राजा रन्तिदेव संकृति का छोटा पुत्र

था और वह भरत से छः पीढ़ी बाद हुआ। रन्तिदेव बड़ा धर्मात्मा था और उसने कई एक यज्ञ किए। इन यज्ञों में गौओं का वध किया जाता था। इससे उसकी कीर्त्ति दूर-दूर तक फैली ॥४७॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो [1]नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः---शार्ङ्गिणः वर्णचौरे त्वयि (चर्मण्वत्याः) जलम् आदातुम् अवनते (सति) पृथुम् अपि दूरभावात् तनुम् तस्याः सिन्धोः प्रवाहम् गगन-गतयः नूनम् दृष्टीः आवर्ज्य एकं स्थूल-मध्येन्द्रनीलम् भुवः मुक्तागुणम् इव प्रेक्षिष्यन्ते ॥४८॥

(सं०) त्वयीति। शार्ङ्गिणः कृष्णस्य वर्णस्य कान्तेश्चौरे वर्णचौरे। तत्तुल्य-वर्ण इत्यर्थः। त्वयि जलमादातुमवनते सति पृथुमपि दूरत्वात्तनुं सूक्ष्मतया प्रतीयमानं। तस्याः सिन्धोश्चर्मण्वत्याख्यायाः प्रवाहम्। गगने गतिर्येषां ते गगनगतयः खेचराः सिद्धगन्धर्वादयः। अयमपि बहुव्रीहिः पूर्ववज्जन्माद्यु-त्तरपदेषु द्रष्टव्यः। नूनं सत्यं दृष्टीरावर्ज्य नियम्य, एकमेकयष्टिकं स्थूलो महान् मध्यो मध्यमणीभूत इन्द्रनीलो यस्य तं भुवो भूमेर्मुक्तागुणं मुक्ताहार-मिव प्रेक्षिष्यन्ते। अत्रात्यन्तनीलमेघसंगतस्य प्रवाहस्य भूकण्ठमुक्तागुणत्वेनो-त्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षैवेयमितीवशब्देन व्यज्यते। निरुक्तकारस्तु "तत्र तत्रोपमा यत्र इवशब्दस्य दर्शनम्" इतीवशब्ददर्शनादत्राप्युपमैवेति बभ्राम ॥ ४८ ॥

पदार्थः—शार्ङ्गिणः वर्णचौरे = कृष्ण के रंग को चुरानेवाले अर्थात् कृष्ण के रंग के समान काले। त्वयि = तेरे। जलम् आदातुम् = जल लेने के लिए। अवनते (सति) = झुकने पर। पृथुम अपि = बड़े भारी (विस्तृत) भी। दूर-

१—दूरम्। सु० वि०, सा० रो०, स० ती०।

भावात् = दूर होने के कारण। तनुम् = छोटे। तस्याः सिन्धोः = उस नदी (चर्मण्वती) के। प्रवाहम् = बहाव को। गगनगतयः = आकाश में विचरण करने वाले (सिद्ध, गन्धर्व आदि)। नूनम् = अवश्य। दृष्टीः आवर्ज्य = आँखों को नीचे करके, दृष्टि डालकर। स्थूलमध्येन्द्र-नीलम् = जिसके मध्य में एक महान् इन्द्र–नील मणि लगा हुआ है, ऐसी। भुवः = पृथ्वी की। एकं मुक्तागुणम् इव = मानो कि मोतियों की एक लड़ीवाली माला हो। प्रेक्षिष्यन्ते = देखेंगे।

भाषानुवादः—कृष्ण का रंग चुरानेवाले (अर्थात् काले-काले) तेरे (चर्मण्वती के) जल को लेने के लिए नीचे झुकने पर, आकाश में विचरनेवाले (सिद्ध–गन्धर्व आदि) उस नदी के प्रवाह को, जो विस्तृत होने पर भी दूर होने के कारण छोटा–सा (लगता) है, आँखों को नीचे की ओर करके यों देखेंगे मानो कि (यह) पृथ्वी की एक–लडी मोतियों की माला हो, जिसके मध्य में इन्द्र–नील मणि लगा हुआ है ॥४८॥

व्याकरणम्—शार्ङ्गिणः = शृङ्गस्येदं शार्ङ्गम् (धनुः) तदस्यास्तीति शार्ङ्गी तस्य। शृङ्ग+अण्+इनि, ष० एक०। वर्णचौरे = वर्णं चोरयतीति वर्णचौरः तस्मिन्। आदातुम् = आ+√दा, (जु० उभ०)+तुमुन्। अवनते = अव+√नम् +क्त, कर्त्तरि। दूरभावात् = दूरस्य भावः√भू+घञ् भावे, तस्मात्। गगन–गतयः = गगने गतिर्येषां ते (ब०व्री०)। आवर्ज्य = आ+√वृज्, (रु०प०)+य (ल्यप्)। दृष्टीः = दृष्टि का द्वि० बहु०। स्थूलमध्येन्द्रनीलम् = मध्यः इन्द्र-नीलम् (कर्मधा०)। स्थूलः मध्येन्द्रनीलः यस्य (बहुव्री०) तम्। 'मुक्ता-गुणम्' का विशेषण। मुक्तागुणम् = मुक्तायाः गुणम् (ष० तत्पु०); यह प्रवा-हम् का उपमान है। प्रेक्षिष्यन्ते = प्र+√ईक्ष, (भ्वा० आ०, देखना), लृट्, प्र० पु० बहु०। नूनम् = अव्यय ॥४८॥

विशेषः—वर्णचौरे = देखिए—पूर्वमेघ ४९ 'कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीम्-

षाम्'। और देखिए--पूर्वमेघ १५ 'येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिम्........ गोपवेषस्य विष्णोः।'

पृथुमपि तनुम् = इसका भावार्थ यह है कि वैसे तो चर्मण्वती का बहाव विस्तृत है, परन्तु आकाश में विचरण करनेवाले सिद्ध-गन्धर्व आदि जब दूर से इसे देखेंगे, तो यही बहाव छोटा सा प्रतीत होगा। इस अवस्था में यह नदी, जिससे जल लेने के लिए बादल इसके एक कोने की ओर झुका है, स्वयं एक लड़ीवाली मोतियों की माला के समान प्रतीत होगी और उसपर स्थित काले रंग का बादल उस माला का मध्य-नील-मणि प्रतीत होगा। इस सम्बन्ध में देखिए—अभि० शाकु० VII. ८ 'सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः।' इस श्लोक के अन्तर्गत विचार के लिए देखिए—रघु० XIII. ४८ 'एषा प्रसन्न-स्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी। मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावलीकण्ठगतेव भूमेः।'

आवर्ज्य = सरस्वती० इसका अर्थ 'नमयित्वा,' सारोद्धा० 'आनम्य' और बल्लभ 'निक्षिप्य' करते हैं इन सब अर्थों से 'झुकना अथवा नीचे फेंकना' का आशय स्पष्ट है। इस प्रकार यह अर्थ मल्लि० के द्वारा किए गए 'नियम्य' (रोक कर) इस अर्थ की अपेक्षा अच्छा प्रतीत होता है।

इस श्लोक में चर्मण्वती नदी पर मोतियों की लड़ी की संभावना की जाने से उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥४८॥

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं[1]
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥४९॥

१—जुषाम्। विलसन; युषाम्।

अन्वयः——ताम् (चर्मण्वतीम्) उत्तीर्य (त्वम्) आत्मबिम्बम् परिचित-भ्रूलता-विभ्रमाणाम् पक्ष्मोत्क्षेपात् उपरि-विलसत्-कृष्ण-शार-प्रभाणाम् कुन्द-क्षेपानुग-मधुकर-श्रीमुषाम् दशपुर-वधू नेत्रकौतूहलानाम् पात्रीकुर्वन् व्रज ॥४५॥

(सं०) तामिति। तां चर्मण्वतीमुत्तीर्य भ्रुवो लता इव भ्रूलताः। उपमित-समासः। तासां विभ्रमा विलासाः परिचिताः क्लृप्ता येषु तेषां पक्ष्माणि नेत्रलोमानि। "पक्ष्म सूत्रे च सूक्ष्मांशे किञ्जल्के नेत्रलोमनि" इति विश्वः। तेषामुत्क्षेपादुन्नमनाद्धेतोः। कृष्णाश्च ताः शाराश्च कृष्णशारा नीलशवलाः। "वर्णो वर्णेन" (२।१।६९) इति समासः। "कृष्णरक्तसिताः शाराः" इति यादवः। ततश्च 'शार'शब्दादेव कार्ष्ण्ये सिद्धे पुनः कृष्ण'पदोपादानं कार्ष्ण्यप्राधान्यार्थम्। रक्तत्वं तु न विवक्षितमुपमानानुसारात्तस्य स्वाभाविकस्य स्त्रीनेत्रेषु सामुद्रिकविरोधादितरस्याप्रसङ्गात्। क्वचिद्भावकथनं तूपपत्तिविषयम्। उपरि विलसन्त्यः कृष्णशाराः प्रभा येषां तेषाम्। कुन्दानि माघ्यकुसुमानि। "माघ्यं कुन्दम्" इत्यमरः। तेषां क्षेप इतस्ततश्चलनं तस्यानुगा अनुसारिणो ये मधुकरास्तेषां श्रियं मुष्णन्तीति तथोक्तानाम्। क्षिप्यमाण-कुन्दानुविधायिमधुकरकल्पानामित्यर्थः। दशपुरं रन्तिदेवस्य नगरं तस्य वध्वः स्त्रियः। "वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च" इत्यमरः। तासां नेत्रकौतूहलानां नेत्राभि-लाषाणाम्। साभिलाषदृष्टीनामित्यर्थः। आत्मबिम्बं स्वमूर्तिं पात्रीकुर्वन् व्रज गच्छ ॥ ४९ ॥

पदार्थः—ताम् = उस (चर्मण्वती) को। उत्तीर्य = लांघकर। आत्मबिम्बम् = अपने स्वरूप (मूर्ति) को; अपने आप को। परिचितभ्रूलताविभ्रमाणाम=जो बेल सी लम्बी भौंहों के बिलास से परिचित (अभ्यस्त) हैं। पक्ष्मोत्क्षेपात् = पलकोंके ऊपर उठानेके कारण। उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् = जिनमें काले, लाल तथा सफेद ('कृष्णरक्त-सिताः शाराः' इति यादवः) कान्ति ऊपर शोभा दे रही है। कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम् = जो चमेली के फूलों के इतस्ततः

हिलने-डुलने के अनुसार (स्वयं भी) हिलने-डुलनेवाले भ्रमरों की शोभा चुराने वाले हैं। दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् = दशपुर (नगर) की स्त्रियों के आंखों के कौतूहलों अर्थात् कौतूहल भरे उनकी आंखों का। पात्रीकुर्वन् = पात्र, विषय बनाता हुआ। व्रज = जाना ॥ ४९ ॥

भाषानुवादः--उस (चर्मण्वती) को पार करके (तुम) अपने स्वरूप (अपने आप) को (रन्तिदेव के नगर) दशपुर की नवयुवतियों की (उन) आंखों के कौतूहलों का विषय बनाते हुए जाना, जो बेल-सी (लम्बी-लम्बी) भौंहों के विलास में अभ्यस्त हैं, जिनके पलकों के उठाने के कारण काली, श्वेत तथा लाल रंगों की कान्ति ऊपर विलास करती रहती है और जो चमेली के फूलों के इधर-उधर हिलने-डुलने के पीछे (स्वयं भी) हिलने-डुलनेवाले भ्रमरों की शोभा को चुराती हैं ॥४९॥

व्याकरणम्—उत्तीर्य = उत्+√तॄ, (तुदा० प०, तैरना)+य (ल्यप्)। आत्मबिम्बम् = आत्मनो बिम्बः (मूर्त्तिः, स्वरूपम्) आत्मबिम्बस्तम्। परिचित-भ्रूलता० = परिचिताः भ्रुवो लताः इव भ्रूलता तासाम् (उपमितसमासः) विभ्रमा विलासाः येषु तेषाम् (ब० व्री०)। पक्ष्मोत्क्षेपात् = पक्ष्माणि नेत्रलोमानि तेषामुत्क्षेपादुन्नमनात्; उत्+√क्षिप् (तुदा० प०, फेंकना)+अ (घञ्)। उपरिविलसत्कृष्ण० = उपरिविलसन्त्यः कृष्णाश्च ताः शाराश्च कृष्णशाराः नील-शबलाः ('वर्णो वर्णेन' समासः) प्रभाः येषां तेषाम् (ब० व्री०)। कुन्दक्षेपानुगमधुकर० = कुन्दानां क्षेप इतस्ततश्चलनं तस्यानुगा अनुसारिणो ये मधुकरास्तेषां श्रियं मुष्णन्तीति तथोक्तानाम्। मुषाम् = √मुष्, (क्र्या० प० चुराना) क्विप्। दशपुरवधूनेत्र० = दशपुराणि यत्र तत् दशपुरम् तस्य वध्वस्तासां नेत्राणि तेषां कौतूहलानां नेत्राभिलाषाणाम् सकौतूहलदृष्टीनामित्यर्थः। पात्रीकुर्वन् = अपात्रं पात्रं सम्पद्यमानं करोति इति पात्रीकुर्वन्; पात्र+च्वि+√कृ+अत् (शतृ)। व्रज = √व्रज्, (भ्वा० प०, जाना), लोट्, म० पु० एक० ॥

विशेष:---कृष्णशारप्रभाणाम्=यद्यपि 'शार' शब्द का अर्थ 'कृष्ण-रक्त-सिता: शारा:' यादव कोष के अनुसार काला-लाल-श्वेत अर्थ होने से आँखों के तीनों ही रंगों का ग्रहण हो जाता है; फिर पृथक् दिये गए 'कृष्ण' शब्द के कारण यहां काले रंग का प्राधान्य विवक्षित है, अर्थात प्रधानत: काले, देखिए-कृष्णशारच्छविर्योऽसौ......कटाक्ष इव पातित:' विक्र० IV. ३१।

कुन्दक्षेपानुगमधुकर० = कुन्द (चमेली) का फूल सफेद होता है और इसके मध्य में बैठा हुआ भ्रमर काला होता है इस प्रकार भ्रमर से युक्त कुन्द की समानता दशपुर की स्त्रियों के उन नेत्रों से की गई है जो स्वयं 'श्वेत होते हुए' काली-काली पुतलियों से शोभित हैं। आंखों में लाली भी रहती है, परन्तु यहां वह कवि को विवक्षित नहीं; एक तो—इसलिए कि उपमान 'भ्रमर-युक्त-कुन्द' से समानता दिखानी है; उसमें लाली नहीं है, दूसरे---स्त्रियों के नेत्रों में लाली किसी कारण से आती है, स्वभावत: नहीं। स्त्री-नेत्र में स्वाभाविक लाली सामुद्रिक शास्त्रानुसार एक अशुभ लक्षण होता है।

दशपुर = इसका आधुनिक नाम 'दसोर' अथवा 'मन्दसोर' है जो सिवदा के उत्तर अथवा दक्षिण तट पर है। यह मध्य-भारत के पश्चिमी मालव मण्डल (Division) में इस नाम के ज़िले का प्राचीन काल में बहुत वैभव सम्पन्न नगर होगा, क्योंकि इसका वर्णन महाभारत, नासिक शिलालेखों तथा गुप्तवंश के शिलालेखों में आता है।

विभ्रम = इसके अर्थ के लिए निम्न श्लोक देखिए—"हावो मुखविकार: स्यात् भावश्चित्तसमुद्भव:। विलासो नेत्रयो: ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूसमुद्भव:।"

नेत्रकौतूहलानाम् = इस पर सारो० का इस प्रकार कथन है—दशपुराभिधाननगर-नारी-वयनाश्चर्यालोकनानां कौतुकं कारणं विलोकितं कार्यम्। कारणे कार्योपचारात्कौतुकं जनयन्निरीक्षितानामिति भाव:।

श्रीमुषाम् = सुन्दरता को चुरानेवाले अर्थात् सुन्दरता का अनुकरण करनेवाले। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४८ में 'शार्ङ्गिणो वर्णचौरे'।

इस श्लोक में उपमालंकार है ॥४९॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ[1]च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्य[2]भ्यवर्षन्मुखानि ।। ५० ।।

अन्वय :—अथ ब्रह्मावर्तं जनपदम् छायया गाहमानः क्षत्र-प्रधन-पिशुनम् तत् कौरवम् क्षेत्रम् भजेथाः; यत्र गाण्डीवधन्वा शित–शर–शतैः राजन्यानाम् मुखानि धारापातैः कमलानि त्वम् इव अभ्यवर्षत् ।।५०।।

(सं०) ब्रह्मावर्तमिति । अथानन्तरं ब्रह्मावर्तं नाम जनपदं देशम् । अत्र मनुः (२।१७)—"सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।" इति । छाययानातपमण्डलेन गाहमानः प्रविशन्न तु स्वरूपेण । "पीठक्षेत्राश्रमादीनि परिवृत्यान्यतो व्रजेत्" इति वचनात् । क्षत्रप्रधनपिशुनम् । अद्यापि शिरःकपालादिमत्तया कुरुपाण्डवयुद्धसूचकमित्यर्थः । "युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्" इत्यमरः । तत् प्रसिद्धं कुरूणामिदं कौरवं क्षेत्रं भजेथाः, कुरुक्षेत्रं व्रजेत्यर्थः । यत्र कुरुक्षेत्रे गाण्डचस्यास्तीति गाण्डीवं धनुर्विशेषः । "गाण्डचजगात्संज्ञायाम्" (५।२।११०) इति मत्वर्थीयो वप्रत्ययः । "कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुंनपुंसकौ" इत्यमरः । तद्धनुर्यस्य स गाण्डीवधन्वाऽर्जुनः । "वा संज्ञायाम्" (५।४।१३३) इत्यनङादेशः । शितशरशतैर्निशितबाणसहस्रै राजन्यानां राज्ञां मुखानि धाराणामुदकधाराणां पातैः कमलानि त्वमिवाभ्यवर्षदभिमुखं वृष्टवान् । शरवर्षेण शिरांसि चिच्छेदेत्यर्थः ।। ५० ।।

पदार्थः—अथ=इसके बाद । ब्रह्मावर्तं जनपदम्=ब्रह्मावर्त नाम के देश में । गाहमानः=प्रवेश करता हुआ । क्षत्र–प्रधन–पिशुनम्=क्षत्रियों के युद्ध

१–अधः, वल्ल०म०सि० विल्स० इत्यादि । २–अभ्यसिञ्चत्, विल्स० वल्ल० ।

सूचक। तत्=उस (प्रसिद्ध)। कौरवम् क्षेत्रम्=कौरवों के क्षेत्र अर्थात् कुरू-क्षेत्र को। भजेथाः=प्राप्त करना, जाना। यत्र=जहां (कुरुक्षेत्र में)। गाण्डीव-धन्वा=गाण्डीव धनुष को धारण करनेवाले (अर्जुन ने)। शितशरशतैः=सैकड़ों तेज बाणों से। राजन्यानां मुखानि=क्षत्रियों के शिरों पर। धारा-पातैः=(जल की) धाराओं केगिरा ने से। कमलानि=कमलों पर। त्वम् इव=तेरी तरह। अभ्यवर्षत्=वर्षा की थी ॥५०॥

भाषानुवादः—इसके अनन्तर ब्रह्मावर्त नाम के देश में छाया द्वारा प्रवेश करते हुए (तुम) क्षत्रियों के युद्ध-सूचक उस प्रसिद्ध कौरवों के क्षेत्र (कुरुक्षेत्र) को जाना, जहाँ गाण्डीव धनुषवाले (अर्जुन) ने राजाओं के शिरों पर सैकड़ों तीक्ष्ण बाण यों बरसाए थे जैसे तुम कमलों पर (जल) धारा बरसाते हो ॥

व्याकरणम्—गाहमानः=√गाह्, (भ्वा० आ०, प्रवेश करना)+शानच्, प्र० एक०। क्षत्रप्रधनपिशुनम्=क्षत्राणां प्रधनं युद्धम् ('युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्' इत्यमरः) तस्य पिशुनम् सूचकम्। कौरवम्=कुरूणामिदं कौरवम्; कुरु+अ (तद्धितप्रत्यय)। भजेथाः=√भज्, (भ्वा० उभ०, सेवा करना, प्राप्त करना) विधिलिङ् म० पु० एक०। 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' आत्मनेपदम्। गाण्डीवधन्वा=गाण्डीग्रन्थिरस्यास्तीति गाण्डीवम्। यहां मतुप् अर्थ में 'व' प्रत्यय लगा है। गाण्डीवं धनुर्यस्य स गाण्डीवधन्वा (ब० व्री०)। बहुव्रीहि समास में धनुस् को अनङ् आदेश होकर धन्वन् हो जाता है। राज-न्यानाम्=राजन्+यत्=राजन्यः तेषाम् राजन्यानाम्। शितशरशतैः=शिता ये शराः तेषां शतैः। शित=√शो (दि० प०)+त। धारापातैः=धाराणामुदक-धाराणां पातैः पातनैः। अभ्यवर्षत्=अभि+√वृष्, (भ्वा०प०, बरसना), लङ् प्र० पु० एक० ॥५०॥

विशेषः—ब्रह्मावर्तम्=यह सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्य का देश है। देखिए—मनु० II. १७ 'सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देव-

निर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥' यह देश हस्तिनापुर के उत्तर पश्चिम में कुरुक्षेत्र के समीप है।

क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनम्=कौरवों और पाण्डवों के मध्य में हुए युद्ध का अनुमान करा देनेवाला स्थान। मल्लि० के अनुसार उसके समय में यहां पाए गए मनुष्यों के कपाल (मुण्ड) तथा अस्थिपञ्जर मिलते हैं साथ ही यहां की सारी भूमि रंगी हुई है, इससे यहां लड़े गए भूतपूर्व युद्ध का अनुमान हो जाता है। यह स्थान जिसे कुरुक्षेत्र कहते हैं, स्थानेश्वर के कुछ दक्षिण–पूर्व में स्थित है। महाभारत वनपर्व० के ८३.४ 'दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्योत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रं ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥' इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र सरस्वती के दक्षिण से दृषद्वती के उत्तर तक फैला हुआ था। यह अम्बाला छावनी से २० मील दिल्ली की ओर है। कुरुक्षेत्र अब भी तीर्थ स्थान माना जाता है। इसकी पवित्र भूमि सरस्वती नदी के जल से सींची गई है। सरस्वती अब पृथ्वी में समा चुकी है। कुरुक्षेत्र में इस महाभारत युद्ध के लिए देखिए भगवद्गीता I. १, 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥'

गाण्डीवधन्वा='गाण्डीव' अर्जुन के धनुष का नाम था इसीलिए इस धनुष को धारण करने के कारण अर्जुन का नाम 'गाण्डीवधन्वा' या 'गाण्डीवधारी' पड़ा है। देखिए—भगवद्गीता I. ३० 'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्।'

अभ्यवर्षन्मुखानि = देखिए, रघु० XV. ५८ 'योधाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्य-वर्षन्नुपायनैः।'

इस श्लोक में अर्जुन की बाण–वर्षा की तुलना बादल की जल–वर्षा से की जाने के कारण उपमा अलंकार है ॥५०॥

[1]हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
[2]बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।
कृत्वा तासा[3]मधिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमसि[4] भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ।। ५१ ।।

अन्वयः——बन्धुप्रीत्या समर–विमुखः लाङ्गली अभिमतरसाम् रेवती––लोचनाङ्काम् हालाम् हित्वा याः (अपः) सिषेवे, हे सौम्य ! तासां सारस्वतीनाम् अपाम् अधिगमम् कृत्वा अन्तःशुद्धः त्वम् वर्ण–मात्रेण कृष्णः भविता असि (न तु पापेन) ।।५१।।

(सं०) हित्वेति । बन्धुप्रीत्या कुरुपाण्डवस्नेहेन, न तु भयेन । समरविमुखो युद्धनिःस्पृहः । लाङ्गलमस्यास्तीति लाङ्गली हलधरः । अभिमतरसामभीष्टस्वादां तथा रेवत्याः स्वप्रियाया लोचने एवाङ्कः प्रतिबिम्बितत्वाच्चिह्नं यस्यास्तां हालां सुराम् । "सुरा हलिप्रिया हाला" इत्यमरः । "अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम्" (काव्या. सू. ५।१।१३) इत्यत्र सूत्रे "हालेति देशभाषापदमप्यतीव कविप्रयोगात्साधु" इत्युदाजहार वामनः । हित्वा त्यक्त्वा । दुस्त्यजामपीति भावः । याः सारस्वतीरपः सिषेवे । हे सौम्य सुभग ! त्वं तासां सरस्वत्या नद्या इमाः सारस्वत्यस्तासामभिगमं सेवां कृत्वान्तोऽन्तरात्मनि शुद्धो निर्मलो निर्दोषो भविता । "ण्वुल्तृचौ', (३।१।१३३) इति तृच् । अपि सद्य एव पूतो भविष्यसीत्यर्थः । "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (३।३।१३१) इति वर्तमानप्रत्ययः । वर्णमात्रेण वर्णेनैव कृष्णः श्यामः । न तु पापेनत्यर्थः । अन्तःशुद्धिरेव संपाद्या न तु बाह्या । बहिःशुद्धोऽपि सूतवधप्रायश्चित्तार्थं सारस्वतसलिलसेवी तत्र भगवान्बलभद्र एव निदर्शनम् । अतो भवतापि सरस्वती सर्वथा सेवितव्येति भावः।। ५१ ।।

१—कृत्वा, छित्त्वा । २—बन्धुस्नेहात्, का० पा० आदि । ३–अभिगमम्, मल्लि० सारो० विल्स० इत्यादि । ४–त्वमपि, वल्ल० सारो० सु० वि० विल्स० ।

पदार्थः—बन्धुप्रीतया=बान्धवों के प्रति प्रेम के कारण। समर-विमुखः= युद्ध से मुंह मोड़े हुए। लाङ्गली=बलराम ने। अभिमतरसाम्=जिसका स्वाद (रस) उन्हें अच्छा लगता था, अभीष्ट स्वादवाली। रेवतीलोचनाङ्काम्=रेवती (बलराम की स्त्री) के नेत्रों (के प्रतिबिम्बों) से चिह्नित। हालाम्=मदिरा को। हित्वा=छोड़कर। याः=जिस (सरस्वती के जल) को। सिषेवे=सेवन किया। (हे) सौम्य=हे सुभग!। तासाम् सारस्वतीनाम् अपाम्=उस सरस्वती नदी के जल का। अधिगमम् कृत्वा=, सेवन करके प्राप्त करके। अन्तः शुद्धः त्वम्=अन्दर से शुद्ध हुए तुम। वर्णमात्रेण=केवल रंग से ही। कृष्णः=काले। भविता असि=होओगे ॥५१॥

भाषानुवादः—बन्धुओं के प्रति प्रेम (होने के कारण) युद्ध से विमुख होकर बलराम ने स्वाद में अनुकूल (अच्छी) लगनेवाली तथा रेवती के (प्रतिबिम्बित) नेत्रों द्वारा चिह्नित मदिरा को त्याग कर सरस्वती नदी के जिस जल का सेवन किया था, उसका सेवन करके, हे सुभग! भीतर से शुद्ध हुए तुम केवल रंग से ही काले होवोगे (न कि पाप से) ॥५१॥

व्याकरणम्—बन्धुप्रीत्या=बन्धूनाम् (कौरव-पाण्डवानां) प्रीत्या। समर-विमुखः=समरात् विमुखः (प० तत्पु०)। लाङ्गली=लाङ्गलम् (हलम्) अस्यास्तीति—लाङ्गल+इन् (इनि)। अभिमतरसाम्=अभिमतो रसो यस्यास्ताम्। (ब० व्री०) रेवतीलोचनाङ्काम्=रेवत्याः स्वप्रियायाः लोचने एवाङ्कं (प्रतिबिम्बरूपम्) चिह्नं यस्यास्ताम (ब० व्री०) हित्वा=√हा, (जुहो० प०, छोड़ना)+त्वा। सिषेवे=√सेव्, (भ्वा० आ०, सेवन करना), लिट्, प्र० पु० एक०। तासाम्=तद स्त्री० का ष० बहु०। सारस्वतीनाम्= सरस्वती—सरांसि (जलानि) सन्ति अस्याः इति; सरस्+वतुप स्त्रियाम्। सरस्वत्या नद्या इमाः सारस्वत्यस्तासाम्, सरस्वती+अण्+ङीप्। अपाम् (जलस्य)=अप् शब्द का ष० बहु०। यह शब्द नित्य बहुवचन में ही प्रयुक्त

होता है । अधिगमम् = अधि+√गम्+अप्, भावे, नपुं० एक० । अन्तःशुद्धः = अन्तः अन्तरात्मनि शुद्धः निर्मलः । वर्णमात्रेण = वर्ण एव वर्णमात्रम् तेन । कृष्णः भविता = √भू+तृ, प्र० एक० । असि = √अस्, (अदा० प०, होना) लट्, म० पु० एक० 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इससे वर्तमान सामीप्य में वर्तमान काल हुआ ॥५१॥

विशेषः—बन्धुप्रीत्या = कौरव पाण्डवों की लड़ाई में यद्यपि कृष्ण ने पाण्डवों का साथ दिया, परन्तु बलराम किसी का भी पक्ष न लेकर सरस्वती तथा अन्य तीर्थों पर यात्रा के लिए चले गए । देखिए भागवत पुराण XII ।

लाङ्गली=यह बलराम का नाम है । बलराम का प्रधान शस्त्र 'लाङ्गल' (हल) था, जिससे वे अपने शत्रुओं को खदेड़ते थे । बलराम कृष्ण के बड़े भाई थे और इन्हें शेषनाग का अवतार समझा जाता है । ये वसुदेव और देवकी के सातवें पुत्र थे । कंस के दुराचार से बचने के लिए वे वसुदेव की दूसरी स्त्री रोहिणी के गर्भ में अवतीर्ण हुए थे ।

रेवतीलोचनाङ्काम् = रेवती बलराम की पत्नी थी और अपने पति के साथ पानोत्सवों में भाग लिया करती थी । इसलिए एक साथ इकट्ठे बैठकर मदिरा पीने के समय उसमें रेवती के नेत्रों का प्रतिबिम्ब पड़ जाया करता था और तब वह मदिरा 'रेवती-लोचनाङ्क' बन जाती थी । सारोद्धा० कहती है—'सहपानाद्रेवती-प्रतिबिम्बसंभवः' । देखिए–ऋतु० I. ३ 'प्रियामुखोच्छ्वास विकम्पितं मधु' । और देखिए रघु० IX. ३६ 'पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डन–वर्जितम् ।'

हित्वा हालाम् = एक बार भ्रमण करते हुए बलराम ने नैमिषारण्य में ऋषियोंके साथ यज्ञ करते हुए सुतका, जिसने उनका सत्कार नहीं किया था, कुशा के अग्रभाग से वध कर दिया था । एवं उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगा । इसके प्रायश्चित्तरूप ऋषियोंने उन्हें तीर्थों की यात्रा करते हुए भारतवर्ष की प्रदक्षिणा

करने को कहा। सम्भवतः बलराम ने प्रायश्चित्त स्वरूप मदिरा सेवन छोड़ दिया और तीर्थों की यात्रा करते हुए किएगए पापसे निर्मुक्त होनेकेलिए उन्होंने सरस्वती नदीमें स्नान किया, क्योंकि कहा जाता है कि सरस्वती का जल पवित्र है।

सौम्य = इस स्थान पर तथा अन्य स्थानों पर वल्लभ 'सोम्य' पाठ पढ़ता है और इसकी व्याख्या (सोम इव सोम्यः) शाखादिभ्यो यत्, परन्तु शाखादिगण आकृतिगण नहीं है और ना ही यह शब्द शाखादिगण में आया हुआ है। क्षीरस्वामी इस शब्द की व्याख्या करता हुआ कहता है--'सोमे देवताऽस्येति सौम्यम् 'सोमाट्यण्, सुन्दरे तूपचारात्'। अमरसिंह और क्षीरस्वामी पुराने प्रामाणिक कोषकार हैं। अमर० लिखता है 'सौम्यं तु सुन्दरे सोमदेवते'।

सारस्वतीनाम् = देखिए पूर्वमेघ श्लोक ५० का 'विशेष' सरस्वती भारत की पवित्र नदियों में से एक नदी है। यह हिमालय के दक्षिण भाग से निकल कर कुरुक्षेत्र के कुछ उत्तर-पश्चिम में बहती हुई महान् मरुस्थल में लीन हो जाती है।

अधिगमम् = मल्लि० ने इसके स्थान में 'अभिगमम्' पाठ दिया है। अन्य टीकाकार पार्श्व० बल्लभ 'अधिगमम्' पाठ देते हैं। 'अभिगम' का अर्थ 'पास जाना' तथा 'सम्पर्क' है और अधिगम का अर्थ 'सेवन' या 'प्राप्ति' है जो प्रकरण के अनुसार उचित प्रतीत होता है।

अन्तःशुद्धः = बलराम को सरस्वती नदी पर सूत के वध का प्रायश्चित्त करने के लिए भेजा गया था। यह वध कृष्ण के आदेश से किया गया था। सरस्वती पर जाकर बलराम ने अपने अन्तःकरण को इसके जल से शुद्ध किया था। बादल को कहा गया है कि वह भी बलराम के समान सरस्वती के जल का सेवन कर शुद्ध अन्तःकरणवाला हो जायगा। बाहर से काले रहने की कोई बात नहीं। बाह्य-शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि का अधिक महत्त्व है।

त्वमसि भविता = मल्लि० के अनुसार 'भविता' शब्द भू धातु से कर्तरि तृच् प्रत्ययान्त है। 'असि' √अस्, (अदा० प०) (होना), लट्, मध्यम पु० एक० की क्रिया है, जो कि निकट भविष्यार्थ में 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस पाणिनीय सूत्र से सिद्ध हुई है, किन्तु यदि 'भविता' को भू धातु के लुट् का म० पु० एक० माने तो 'भवितासि' ऐसा प्रयोग होना चाहिए था न कि 'असि भविता' छन्द की दृष्टि से भू धातु से 'भवितासि' इस लुट् के रूप का 'असि' अंश 'भविता' से पूर्व पृथक् रक्खा गया है, जो कि पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध है, किन्तु ऐसे उदाहरण संस्कृत–साहित्य में बहुत पाए जाते हैं। देखिए रघु० IX. ६ तं पातयां प्रथममास'। पुनः रघु० XIII. ३६ 'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार'। और देखिए–भट्टि० III. ५ 'उक्षां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्'। इसी प्रकार के प्रयोग अश्वघोष के काव्यों में तथा तत्कालीन शिला–लेखों में में भी पाए जाते हैं। श्री शारदारंजनराय उपर्युक्त समर्थन से सहमत नहीं हैं, वे कहते हैं कि ऊपर के उदाहरणों में 'आम्' प्रत्ययान्तो का असली धातु से पृथक् करण पाया जाता है न कि अन्य प्रत्ययान्तो का भी। इसलिए वे 'असि' के स्थान में 'अपि' पाठ को मानते हैं ॥५१॥

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभृकुटिरचनां या विहस्येव[1] फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५२॥

अन्वयः––तस्मात् (कुरुक्षेत्रात्) अनुकनखलम् शैलराजावतीर्णाम् सगर–तनय–स्वर्ग–सोपान–पङ्क्तिम् जह्नोः कन्याम् गच्छेः या (जाह्नवी) गौरी–वक्त्र–भृकुटि–रचनां फेनैः विहस्य इव इन्दु–लग्नोर्मि–हस्ता (सती) शम्भोः केशग्रहणम् अकरोत्।

१––विहस्यैव, विल्स०।